शास्त्रार्थ पानीपत

भाग १

[क्या जैन तीर्थंकर सर्वज्ञ थे ?]

स्वर्गीया विदुषी चम्पावती जैन

प्रकाशकः—

मंत्री—चम्पावती जैन पुस्तकमाला प्रकाशन विभाग

श्री भा० दि० जैन शास्त्रार्थ संघ,

अम्बाला छावनी।

आभार प्रदर्शन

श्रीमान् साहु प्यारेलाल जी जैन रईस, म्यूनिसिपल कमिश्नर धामपुर जैनसमाज के उदार धनिकों में से एक हैं। आप समाज की भलाई एवं धर्मप्रचार के लिए समय २ पर दान देते ही रहते हैं। अभी कुछ समय से परोपकारार्थ एक शुद्धौषधालय भी आपने धामपुर में स्थापित किया है। प्रस्तुत शास्त्रार्थ का प्रकाशन भी आपकी सहायता से ही हुआ है।

भा० दि० जैन शास्त्रार्थ संघ आपकी इस उदारता का आभारी है तथा इसके लिए आप को हार्दिक धन्यवाद देता है।

विनीत—

मंत्री, चम्पावती जैन पुस्तकमाला

प्रकाशन विभाग भा० दि० जैन शास्त्रार्थ संघ

शास्त्रार्थ का इतिहास

पानीपत में प्रति वर्ष जैन रथोत्सव होता है। रथोत्सव के साथ ही साथ स्थान स्थान पर जैनधर्म के सम्बन्ध में विद्वानों के भाषण भी होते हैं। पानीपत का यह वार्षिक उत्सव मार्च के महीने में हुआ करता है। रथोत्सव के समय एक स्थानीय जैन विद्वान का व्याख्यान भी हुआ था। आपके भाषण का विषय "क्या ईश्वर जगतकर्ता है?" था। आपने अपने भाषण में इस बात को सिद्ध किया था कि ईश्वर को जगत का रचयिता समझना भारी भूल है।

जिस प्रकार आर्यसमाज एवं अन्य कर्त्तावाद की समाजों की मान्यताओं के अनुसार ईश्वर जगत का रचयिता है उसही प्रकार जैन मान्यता इसके प्रतिकूल है—जैन मान्यता कर्तावाद के प्रतिकूल है। जिस प्रकार इतर समाजों को अपनी २ मान्यताओं के समर्थन का पूर्ण अधिकार है और ऐसा करते समय यह नहीं कहा जा सकता कि वे इतर समाजों का खंडन कर रही हैं उस ही प्रकार जैनसमाज को भी यह अधिकार है कि वह अपनी मान्यताओं के अनुसार कर्त्तावाद का खंडन करे। जैन समाज की यह कृति अन्य समाजों की कृतियों के भाँति खंडनात्मक भी स्वीकार नहीं की जा सकती। ऐसा होने पर भी "आर्यसमाज

पानीपत" जैन विद्वान के उक्त भाषण को सहन न कर सकी और उसने तुरन्त जैनसमाज को कर्त्तावाद पर शास्त्रार्थ के लिये निमंत्रण भेज दिया! जैनसमाज पानीपत ने भी आर्यसमाज पानीपत के इस निमंत्रण को सहर्ष स्वीकार कर लिया। दोनों समाजों की तरफ़ से शास्त्रार्थ के नियमादिक के निर्णय के लिए पत्र व्यवहार चालू होगया। जैनसमाज की तरफ़ से आर्य-समाज से उसके माननीय शास्त्रों की सूची भी मांगी गई थी। ज्योंही यह बात जैनसमाज की तरफ़ से उपस्थित की गई, त्यों ही आर्यसमाज ने इसके प्रतिवाद स्वरूप जैनियों से भी उनके माननीय शास्त्रों की सूची का प्रश्न खड़ा कर दिया। जैनसमाज ने अपने माननीय शास्त्रों की सूची आर्यसमाज के पास भेज दी, किन्तु आर्यसमाज ने ऐसा न किया और व्यर्थ के पत्र व्यवहार में कुछ समय नष्ट किया।

जबकि यह बात पोस्टरों के द्वारा जनता के समक्ष उपस्थित की गई तब आर्यसमाज ने एक व्यक्ति श्री रामगोपाल जी की तरफ़ से एक नोटिस प्रकाशित किया जिसमें उसके कुछ माननीय शास्त्रों के नाम थे!

जैन समाज आर्यसमाज के इस चैलेञ्ज का कार्य रूप से जवाब देना चाहता था, अतः उसने आर्यसमाज की इन अव्य-वस्थित बातों पर दृष्टि न डालते हुए शास्त्रार्थ की बातचीत को चालू ही रक्खा और अन्त में दोनों समाजों में निम्नलिखित नियम निश्चित हो गये :—

नियमावली शास्त्रार्थ

१—शास्त्रार्थ ता० ५—११—३३ से १२—११—३३ तक होगा।

२—पहिला विषय "क्या ईश्वर सृष्टि कर्ता है" ता० ५—११—३३ से ८—११—३३ तक होगा; उसके पश्चात् ता० ९—११—३३ से १२—११—३३ तक "क्या जैन तीर्थंकर सर्वज्ञ थे" यह दूसरा विषय होगा।

३—एक दिन में दो पत्र पूर्व पक्ष के और दो पत्र उत्तर-पक्ष के होंगे, जिसमें एक पत्र में ४ पृष्ठ फुलस्केप कागज़ के होंगे। और प्रत्येक पृष्ठ पर ३२ लाइन से ज़्यादा लाइन न लिखी जावेंगी। दोनों पक्ष के विद्वान् प्रत्येक पृष्ठ के एक ही तरफ़ लिख सकेंगे!

४—पहिला पत्र पूर्वपक्ष की तरफ़ से प्रातः काल ८ बजे तक भेजा जावेगा, जिसका उत्तर उत्तर-पक्ष को १२ बजे तक भेज देना होगा; तत्पश्चात् पूर्वपक्ष का दूसरा पत्र ४ बजे तक आजावेगा, जिसका जवाब रात्रि के आठ बजे तक दिया जावेगा। इसी प्रकार प्रत्येक दिन हर एक विषय के सम्बन्ध में शास्त्रार्थ चार रोज़ तक जारी रहेगा; हर एक विषय सम्बन्धी प्रत्येक पक्ष के आठ २ पत्र होंगे। अन्तिम पत्रमें केवल पूर्व युक्तियों पर ही विचार होगा; कोई नवीन युक्ति या प्रमाण न दिया जावेगा।

५—दौराने शास्त्रार्थ में किसी प्रकारकी किसी पक्ष की तरफ़ से इश्तहारबाज़ी न होगी, अलबत्ता प्रत्येक पक्ष को

अधिकार होगा कि वह सर्व साधारण के ज्ञानार्थ शास्त्रार्थ पत्रों को विना टिप्पणी प्रकाशित कराता रहे।

६—समस्त शास्त्रार्थ-पत्र देवनागरी लिपी और हिन्दी भाषा में होंगे।

७—प्रत्येक पक्ष अपने शास्त्रार्थ-पत्रों को अपने नियुक्त प्रतिनिधि व नियुक्त विद्वान (जिसकी सूचना प्रतिनिधि को पहिले देनी होगी) के हस्ताक्षर कराकर दूसरे पक्ष के नियुक्त प्रतिनिधि व नियुक्त विद्वान् के पास भेजा करेगा; दूसरे पक्षको उसकी पहुँच और पहुंच के समय की रसीद देनी होगी।

८—प्रत्येक पक्ष माननीय महापुरुषों का उल्लेख करनेमें और एक दूसरे के मन्तव्यों पर टिप्पणी करने में शिष्टाचार से काम लेगा।

९—प्रत्येक पक्ष ने जो अपने २ प्रामाणिक ग्रन्थों की सूची दी हुई है, उनके आधार पर ही प्रमाण और उदाहरण दिये जावेंगे।

ह० सोहनलाल आर्य,	ह० मुनिसुव्रतदास जैन,
मंत्री आ० स० पानीपत।	प्रतिनिधि जैन समाज, पानीपत
ता० २८-१०-३३	ता० २८-१०-३३

शास्त्रार्थ में किसका पक्ष प्रवल रहा इसको मैं विचारशील पाठकों पर ही छोड़ता हूं। जैनसमाज पानीपत को इस शास्त्रार्थ में दि० जैन शास्त्रार्थ सङ्घ अम्बाला ने पूर्ण सहयोग दिया है या यों कहिये कि यह उक्त सङ्घ के सहयोग का ही

फल है जो पानीपत जैनसमाज इस कार्य को निर्विघ्न एवं सफलता के साथ पूर्ण कर सकी है ! इसके लिए मैं पानीपत दि० जैनसमाज की तरफ़ से शास्त्रार्थ संघ का हृदय से आभारी हूँ। जैनसमाज का कर्तव्य है कि वह ऐसी संस्था के लिए हर एक प्रकार की सहायता प्रदान करे, जिससे इस की जड़ दृढ़ हो जाय और यह स्थिरता के साथ जैनसमाज की सेवा कर सके ! शुभमस्तु सर्वजगतः

पानीपत,
१२ मार्च १९३४ ई०

जैनसमाज का तुच्छ सेवकः—
मुनिसुव्रतदास जैन,
प्रतिनिधि जैनसमाज, पानीपत।

प्रकाशकीय वक्तव्य

लिखित या मौखिक शास्त्रार्थों में किसी भी विषय के समर्थन या उसके निराकरण में पक्ष प्रतिपक्ष की तरफ़ से एक साथ अनेक युक्तियाँ उपस्थित की जाया करती हैं। इसका यह परिणाम होता है कि साधारण समझ के व्यक्ति उसके संबन्ध में सरलता के साथ अपना मत निश्चित नहीं कर पाते। यही बात इस लिखित शास्त्रार्थ में हुई थी। इस कठिनता को दूर करने के लिए हमने यह विचार किया था कि इसकी भूमिका में उन सबका प्रथक्करण कर दिया जाय और उनको नम्बरवार रख दिया जाय। एक २ युक्ति के साथ ही साथ उसके

समर्थन या निराकरण में दी गई बातें भी लिखदी जायं। इसका यह परिणाम होता कि किसी भी एक युक्ति के सम्बन्ध में पढ़ने वाले को उसके पक्ष या विपक्ष में लिखी गई बातों को भिन्न २ स्थानों पर देखने का कष्ट न होता और ऐसा हो जाने से उनको शास्त्रार्थ के परिणाम तक पहुँचने में अति सरलता हो सकती थी। इसही दृष्टि से इसही शास्त्रार्थ के दूसरे भाग को प्रकाशित करते हुए हमने ऐसा किया है।

हमारे सहयोगी—आर्यविद्वान-को इसमें एतराज़ है। आपका कहना है कि इसमें भूमिका की दृष्टि से या किसी अन्य दृष्टि से भी एक भी शब्द न जोड़ा जाय और इसको ज्यों का त्यों ही प्रकाशित किया जाय! हम यह नहीं चाहते कि इसके प्रकाशन में हमारे मित्र को रञ्चमात्र भी असंतोष हो; अतः इसको विना किसी भूमिका के ही प्रकाशित कर रहे हैं। हमारी हार्दिक भावना है कि उभय सम्प्रदायावली महानुभाव साम्प्रदायिक भावना को सामने न रखकर विद्यार्थी की दृष्टि से इसका अध्ययन करके इससे लाभ उठावें!

यहाँ हम यह भी लिख देना आवश्यक समझते हैं कि इस शास्त्रार्थ के प्रकाशन का कुल व्यय श्रीमान् साहु प्यारेलाल जी जैन रईस धामपुर ने प्रदान किया है; अतः संघ उनकी इस उदारता का हृदय से आभारी है।

अम्बाला
२४ मई सन् १९३४

विनीत—
प्रकाशक।

[१]

जैनसमाज का पत्र

[तारीख़ ९-११-३३ — समय ८ बजे प्रातः]

जगत के पदार्थ दो भागों में विभाजित हैं—एक स्थूल, वर्तमान और सम्बन्धित और दूसरे सूक्ष्म व्यवहित और असम्बन्धित। जहां तक पहिले विभाग का संबंध है जैन तीर्थङ्करों की प्रत्यक्ष विषयता में कोई मतभेद नहीं, क्योंकि जो व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं मानते वे भी इस विषय में विवाद नहीं करते। विवाद का विषय सूक्ष्म, व्यवहित और असम्बन्धित पदार्थों का जैन तीर्थङ्करों के प्रत्यक्ष विषय होना है। अतः उसके समर्थन में हम निम्न लिखित अनुमान उपस्थित करते हैं :—

१. सूक्ष्म (परमाणु आदि), व्यवहित (भूत-भविष्यत काल के पदार्थ), असम्बन्धित (दूरवर्ती) पदार्थ जैन तीर्थङ्करोंके प्रत्यक्ष के विषय हैं अनुमेय होने से; जो जो अनुमेय होते हैं वह वह प्रत्यक्ष के विषय होते हैं जैसे अग्नि आदि। सूक्ष्म, व्यवहित और असंबन्धित पदार्थ अनुमान के विषय हैं, अतः यह जैन तीर्थङ्करों के प्रत्यक्ष के विषय हैं। इस अनुमान के आधार से उक्त

पदार्थ जैन तीर्थङ्करोंके प्रत्यक्षके विषय सिद्ध होजाने से उनकी सर्वज्ञता स्वयं सिद्ध होजाती है; जैसा कि अनुमान विषयता के साथ प्रत्यक्ष विषयताका अविनाभावी संबंधहै उसी प्रकार प्रमेयत्व के साथ भी प्रत्यक्ष विषयता का अविनाभावी संबन्ध है। दृश्यमान पदार्थों में ऐसा कोई भी पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता जहां प्रमेयता तो हो किन्तु प्रत्यक्ष विषयता न हो, अतः इन दोनों का अविनाभाव संबन्ध है। यह प्रमेयत्व, सूक्ष्म व्यवहित और असम्बन्धित पदार्थों में भी वर्तमान है, क्योंकि जो सत है वह अवश्य प्रमेय है, अतः प्रमेयत्व हेतु उक्त पदार्थों में भी प्रत्यक्ष विषयता का निर्णायक है। इस प्रकार सूक्ष्म, व्यवहित और असम्बन्धित पदार्थों में जैन तीर्थंकरों की प्रत्यक्ष विषयता प्रमाणित हो जाने से प्रमेयत्व हेतु भी उनकी सर्वज्ञता का साधक है; अतः जैन तीर्थङ्करोंकी सर्वज्ञ सिद्धि में यह दूसरा अनुमान है। यही बात श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वात् अर्थात् श्रुतज्ञान शास्त्राधार ज्ञान या विचारक ज्ञान की विषयता के सम्बन्ध में है अर्थात् जिस प्रकार अनुमान विषयता और प्रमेयता की प्रत्यक्ष विषयता के साथ व्याप्ति है, उसी प्रकार श्रुतज्ञानाधिगम्यत्व की भी प्रत्यक्ष विषयता के साथ व्याप्ति है। स्थूल, वर्तमान और सम्बन्धित पदार्थों में ऐसा एक भी पदार्थ दिखाई नहीं देता जिसको शास्त्र के आधार से या विचार के द्वारा जानते हों किन्तु वह प्रत्यक्ष का विषय न हो। सूक्ष्म, व्यवहित और दूरवर्ती पदार्थों का ज्ञान भी शास्त्र एवं विचारों

से होता है, अतः यह उन पदार्थों में प्रत्यक्ष विषयता को से प्रमाणित करता है, क्योंकि श्रुतज्ञानाधिगम्यत्व की व्याप्ति प्रत्यक्ष विषयता के साथ है, इस अनुमान का रूप निम्नलिखित है। ३. सूक्ष्म, अन्तरित और दूरार्थ जैन तीर्थङ्करों के प्रत्यक्ष के विषय हैं श्रुतज्ञान के विषय होने से। जैन तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता को प्रमाणित करने के लिये बहुत से अनुमान दिये जा सकते हैं किन्तु उन सबका उल्लेख करना अनुपयोगी है, फिर भी यहां हम दो तीन अनुमानों का और भी उल्लेख किये देते हैं। ४. जैन तीर्थंकर सर्वज्ञ हैं सकल पदार्थों के जानने का स्वभाव होते हुए आवर्णरहित होने से। जिसका जैसा स्वभाव होता है आवर्णों के हट जाने पर वह वैसा ही प्रगट हो जाता है, जैसे अन्धकार रूपी आवर्ण के हट जाने पर चक्षु का रूप ग्रहण करना। जैन तीर्थंकरों का सकल पदार्थों के ग्रहण करने का स्वभाव है तथा आवर्ण भी दूर हो गये हैं, अतः वे सकल पदार्थ के साक्षात ज्ञाता (प्रत्यक्ष द्रष्टा) हैं। जैन तीर्थंकरों का सकल पदार्थों के जानने का स्वभाव है, क्योंकि निम्नलिखित वक्तव्य से यह प्रमाणित है—संपूर्ण ज्ञेयों को काल की दृष्टि से विभाजित करें तो भूत, भविष्यत और वर्तमान इस प्रकार तीन भेद होते हैं; इन्हीं को यदि क्षेत्र की दृष्टि से और उसमें भी ऊपर और नीचे के अन्तर को विभाजित करें तो ऊपर के नीचे के और मध्यके इस प्रकार तीन भेद होते हैं। इसी प्रकार एक एक के भी अनेक भेद हो सकते हैं। इन संपूर्ण ज्ञेयों में

से चाहे वह किसी भी प्रकार के किसी भी भेद से सम्बन्ध क्यों न रखता हो किन्तु ऐसा कोई भी नहीं जिसको कोई भी न जानता हो या जो किसी से भी न जाना जा सकता हो। ऊपर की वस्तु को ऊपर वाले जानते हैं या जान सकते हैं तो नीचे की वस्तु को नीचे के, इसी प्रकार भूतकाल की वस्तु को भूतकाल के, भविष्यत काल के पदार्थों को भविष्यत काल के और वर्तमान के तत्वों को वर्तमान के मनुष्य जानते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान के सम्पूर्ण जीवों की दृष्टि से वर्तमान में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो न जाना जा सकता हो। ठीक यही बात भूत और भविष्यत के सम्बन्ध में भी है। रेखा गणित का यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि वे दोनों रेखाएँ जो आपस में समान हैं, यदि कोई तीसरी रेखा जो उनमें से किसी एक के समान है तो वह दूसरी के समान है। यहां दो बातें हैं—एक स्वीकृत और दूसरी प्रमाणित। तीसरी रेखा का समान दोनों रेखाओं में से किसी एक के समान होना स्वीकृत है और उसही का दूसरी के समान होना प्रमाणित। रेखा गणित के इस सिद्धान्त को यदि जीवों के सम्बन्ध में घटित करना चाहें तो यों कहना चाहिये कि जितनी भी आत्माएं हैं वे सब स्वरूप की दृष्टि से समान हैं, अतः जिसको एक आत्मा जानती या जान सकती है, उसही को दूसरी भी। यहां पर किसी भी आत्मा के ज्ञेय का स्थान तीसरी रेखा का है और स्वरूप की दृष्टि से समान आत्माओं का स्थान समान

दो रेखाओं का है। जिस प्रकार तीसरी रेखा समान दोनों रेखाओं में से किसी एक के समान होने से ही वह दूसरी के भी समान है उसही प्रकार कोई भी पदार्थ किसी भी आत्मा के ज्ञेय होने से ही वह प्रत्येक आत्मा के ज्ञेय होने योग्य है। स्पष्टता के लिये इसको यों भी कह सकते हैं कि संपूर्ण आत्माओं के जिनदत्त, राममोहन, ब्रजलाल और घनश्याम आदि नाम हैं। जिनदत्त को आत्मा स्वरूप की दृष्टि से राममोहन आदि की आत्माओं के समान है, अतः जिसको राममोहन जानता है या जान सकता है उसको जिनदत्त भी। इसी प्रकार यह बात ब्रजलाल और घनश्याम आदिक सब आत्माओं के साथ घटित कर लेना चाहिये। यह हम पूर्व ही प्रमाणित कर चुके हैं कि जगत की सम्पूर्ण आत्माओं के समुदाय की दृष्टि से जगत की कोई भी बात अज्ञेय नहीं रह जाती और जिनको जगत की सम्पूर्ण आत्मायें जानतीं या जान सकती हैं उनको एक ही आत्मा जान सकता है, जैसा कि जिनदत्त के दृष्टान्त से स्पष्ट किया जा चुका है। अतः स्पष्ट है कि एक ही आत्मा जगत के सम्पूर्ण ज्ञेयों को जान सकती है, यह उसका इस प्रकार का स्वभाव है। ऐसी कोई भी आत्मा नहीं है जो स्वरूप की दृष्टि से दूसरी आत्माओं से विभिन्नता रखती हो, अतः यह भी स्पष्ट है कि ऐसी भी कोई आत्मा नहीं जिसका स्वभाव जगत के सम्पूर्ण ज्ञेयों के जानने का न हो। इसी प्रकार सम्पूर्ण आवर्णों का अभाव होना भी असिद्ध नहीं है, क्योंकि

निम्नलिखित अनुमान इसका समर्थन करते हैं:—आवर्णों का कहीं बिलकुल अभाव होजाता है उसके अभावमें तरतमता होने से; जिसके अभाव में तरतमता होती है उसका कहीं बिलकुल अभाव हो जाता है, जैसे सोने में मैल का। आवर्णों के अभाव में तरतमता का होना हम लोगों में ज्ञान की न्यूनाधिकता से स्पष्ट है, अतः यह भी प्रमाणित है कि इसका कहीं बिलकुल अभाव हो जाता है।

आगम विशेष के सम्बन्ध में मतभेद होने पर भी जहां तक आगम सामान्य का सम्बन्ध है आर्यसमाज और जैन समाज में कोई मतभेद नहीं। आर्यसमाज भी आगम के अस्तित्व को स्वीकार करता है और जैन समाज भी। जहां आगम सामान्य के सम्बन्ध में जैन समाज और आर्यसमाज में मतभेद नहीं, वहां वे इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि इसका साक्षात् प्रतिपादन सर्वज्ञ के द्वारा हुआ है। इस उभय सम्प्रदाय की सामान्य मान्यता के आधार से हम निम्नलिखित अनुमान जैन तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता के सम्बन्ध में उपस्थित करते हैं:—

जैन तीर्थङ्कर सर्वज्ञ हैं शब्दात्मक आगम के साक्षात् प्रतिपादन का अन्य आश्रय न होने से। यह बात असिद्ध नहीं कि आगम शब्द स्वरूप है क्योंकि स्वामी दयानन्द जी ने इस बात को स्वीकार किया है—"वेद तो शब्द अर्थ और सम्बन्ध स्वरूप ही हैं। ऋग्वेद से लेकर चारों वेदों की संहिता अब जिस

प्रकार की हैं कि इनमें शब्द, अर्थ, संवन्ध, पद और अक्षरों का जो क्रम वर्त्तमान है उसी प्रकार का क्रम सब दिन वना रहता है" (ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका सफा २८)। शब्द रूप आगम के साक्षात् प्रतिपादन का दूसरा आश्रय न होने से यह बात विरुद्ध भी नहीं क्योंकि जैन तीर्थङ्करों के अतिरिक्त ऐसा कोई नहीं जिससे कि इस बात की सम्भावना हो। आर्यसमाज के परमात्मा के अतिरिक्त तो किसी भी धर्म प्रवर्तक को आर्यसमाज ने शब्दात्मक आगम का साक्षात् प्रतिपादक माना नहीं है, अतः उनमें तो यह हेतु जाता नहीं है। अव रह जाती है आर्यसमाज के परमात्मा की वात सो उसमें भी यह साधन नहीं जाता, क्योंकि आर्यसमाज का परमात्मा अशरीरी और सर्वव्यापक है। अतः उससे शब्द रूप आगम का प्रतिपादन नहीं हो सकता। शब्द जन्य है यह वात आर्यसमाज के निम्नलिखित मान्य शास्त्रों से प्रमाणित है :—

(१) सतोलिङ्गाभावात् २—२—२६ वै० दर्शन। नित्य वैधर्म्यात् २—२—२७ वै० दर्शन। अनित्यश्चायं कारणतः २—२—२८ वै० दर्शन। न चा सिद्धं विकारात् २—२—२९ वै० दर्शन। अभिव्यक्तौ दोषात् २—२—३० वै० दर्शन। अर्थात् शब्द अनित्य है अन्तराल से—नाश और उत्पत्ति के वीच में उसकी मौजूदगी को वतलाने वाले साधन के अभाव होने से, शब्द अनित्य है नित्य से उलटा होने से; शब्द अनित्य है कारण वाला होने से। शब्द का अनित्यत्व असिद्ध नहीं उसमें

विकार का सद्भाव होने से। शब्द अनित्य है नित्य मान कर उसकी अभिव्यक्ति मानने में दोषों का सद्भाव होने से।
इसी प्रकार आर्यसमाज के माननीय न्याय दर्शनकार महर्षि गौतम और उसके ऊपर वात्स्यायन भाष्य के रचयिता ने भी शब्द को किया कराया माना है (देखो न्याय दर्शन अध्याय ४ सूत्र २७ और इसका वात्स्यायन भाष्य)। सांख्य दर्शनकार कपिल मुनि ने भी शब्द को अनित्य माना है—"न शब्द नित्यत्वं कार्यतः प्रतीते" सांख्य दर्शन अध्याय ५ सूत्र ५८ अर्थात् शब्द नित्य नहीं है, क्योंकि उसमें कार्यता मालूम होती है। जहां कि शब्द जन्य है वहीं उसकी उत्पत्ति के लिए निम्नलिखित कारणों की आवश्यकता है—संयोगाद्विभागाच्च शब्दाच्च शब्द निष्पत्तिः (वैं०दर्शन अ० २ सूत्र ३१) अर्थात् संयोग विभाग और शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है। परमात्मा (आर्यसमाज के) में न संयोग की सम्भावना है न विभाग की, अतः उससे शब्द रूप आगम का प्रतिपादन नहीं हो सकता। अतः यह साधन विरुद्ध नहीं है, विपक्ष में नहीं रहता और न विपक्ष के एक देश में रहता है, अतः अनैकान्तिक भी नहीं है। सम्पूर्ण दोषों से रहित होने से यह साधन अपने साध्य जैन तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता को सिद्ध करता है।

यहां तक अनेक अनुमानों के अधार से यह सिद्ध किया जा चुका है कि जैन तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता एक ध्रुव सत्य है। यथार्थ में सर्वज्ञता का उद्गम स्थान जैन

धर्म ही है । अब हम यह बतलाना आवश्यक समझते हैं कि जैन तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता में बाधक कोई भी प्रमाण मौजूद नहीं है । वस्तु की सिद्धि के दो ही श्रोत होते हैं—साधनों का सद्भाव और बाधकों का अभाव । साधकों का सद्भाव बताया जा चुका है, अब बाधकों का अभाव भी सुनिये । बाधक भी प्रमाण ही होते हैं । अप्रमाण या प्रमाणाभास न तो बाधक ही हो सकता है और न साधक ही । प्रमाण भी प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अभाव बाधक कहे जा सकतेहैं । यदि प्रत्यक्ष बाधक है तो वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष या योगी प्रत्यक्ष ? इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय सम्बद्ध और वर्तमान वस्तु है । सर्वज्ञता न तो सम्बद्ध ही है और न हमारे सामने वर्तमान ही है; अतः इन्द्रिय दर्शी यह नहीं कह सकता कि कालत्रय और लोकत्रय में सर्वज्ञ का अभाव है, क्यों कि कालत्रय और लोकत्रय इन्द्रियदर्शी के विषय नहीं; यदि योगी प्रत्यक्ष सर्वज्ञता का बाधक है तो वह भी इन्द्रिय जन्य है या उससे विपरीत ? पहिले पक्ष में पूर्वोक्त दोष आतेहैं, दूसरे पक्षमें तो यह सर्वज्ञता का साधक ही होगा न कि बाधक । बाधक अनुमान भी कोई नज़र नहीं आ रहा । उपमान सादृश्य का ग्राहक है, अतः यह भी असर्वज्ञ के समान तीन लोक और तीन काल को जान ले तब सर्वज्ञता का बाधक हो सकता है; किन्तु ऐसा है नहीं । असर्वज्ञ के बिना न होने वाला कोई भी कार्य नहीं; अतः अर्थापत्ति भी सर्वज्ञ की बाधक नहीं । सर्वज्ञोक्त आगम तो

सर्वज्ञ का साधक ही होगा। रह जाता है सर्वज्ञोक्त, सो उसको प्रमाणता ही क्या है, अतः आगम भी सर्वज्ञ का बाधक नहीं। अब केवल अभाव प्रमाण रह जाता है। कुमारिल्लभट्ट ने अभाव का लक्षण "गृहीत्वा वस्तु सद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनं मान सम नास्तिता ज्ञानं जायते अज्ञान पेक्षया' अर्थात् कालत्रय और लोकत्रय रूप वस्तु को जहां कि सर्वज्ञ का अभाव करना है जान कर और सर्वज्ञ रूप प्रतियोगी का स्मरण करके बिना इन्द्रियोंकी सहायताके सर्वज्ञ नहीं है ऐसा मानसिक ज्ञान अभाव प्रमाण हो सकताहै। इस लक्षण के अनुसार पहिले किसी स्थान पर सर्वज्ञ को जानना चाहिये, तभी तो कालान्तर में इसका स्मरण हो सकता है। यही नहीं, सर्वज्ञ के अभाव के आधार भूत तीन काल और तीन लोक का ज्ञान भी होना चाहिये। प्रथम तो हम को सर्वज्ञ के आधार भूत तीन काल और तीन लोक का ज्ञान हो नहीं, अतः हम इस दृष्टी से सर्वज्ञ का अभाव नहीं कर सकते और अगर ज्ञान भी होता तो भी अभाव नहीं कर सकते थे, क्योंकि इसके लिये सर्वज्ञ का स्मरण अनिवार्य है जो कि सर्वज्ञके अभाव की बजाय भाव को ही प्रमाणित करता है; अतः अभाव प्रमाण के द्वारा काल-त्रय और लोकत्रय में सर्वज्ञ का अभाव नहीं किया जा सकता। प्रथम तो क्षेत्र विशेष और काल विशेष का अभाव कार्यकारी नहीं, दूसरे इसके लिये भी सर्वज्ञ के स्मरण की आवश्यकता है जो कि अभाव की जगह भाव ही प्रमाणित

करता है। अतः अभाव भी अभाव नहीं करता। अतः जैन तीर्थङ्कर सर्वज्ञ हैं, साधक प्रमाणों का सद्भाव और बाधक प्रमाणों का अभाव होने से। शुभमस्तु सर्व जगतः ॥

ह० मुनिसुव्रतदास जैन,

प्रतिनिधि, जैन समाज, पानीपत।

आर्यसमाज का उत्तरपत्र

[तारीख़ ९-११-३३—समय १२ बजे दोपहर]

यह शास्त्रार्थ "जैन तीर्थङ्कर सर्वज्ञ थे या नहीं" इस विषय पर है। इसको सिद्ध करने के लिये जिस प्रकार के हेत्वाभासों से जैन समाज ने चार पृष्ठ भरे हैं उसी से इस सर्वज्ञ वाद का पूरा खण्डन होता है। क्योंकि जब सिद्धान्ती ही अपने पक्ष को सिद्ध न कर सके तो उसको कैसे माना जावे? जैन समाज के दिये हुये हेत्वाभास—

(१) परमाणु आदि सूक्ष्म वस्तु जैन तीर्थङ्करों के प्रत्यक्ष के विषय हैं अनुमेय होने से, जो जो अनुमेय होते हैं वे वे प्रत्यक्ष के विषय होते हैं, यथा अग्नि आदि। इस में दोष—प्रथम तो हेतु सत्प्रतिपक्ष है क्योंकि दूसरा पक्ष वर्तमान है, यथा जैन तीर्थङ्कर अल्पज्ञ थे शरीरी होने से युष्मदादिवत्। तथा यह हेतु आश्रयासिद्ध है, क्योंकि इसका

आश्रय ही असिद्ध है। एवं यह हेतु अनैकान्तिक भी है, क्यों कि देवदत्तादि सब में रहता है। भला कोई एक बाज़ार में फिरने वाला पुरुष कहे कि मैं सर्वज्ञ हूं, अनुमेय होने से परमाणु आदि सूक्ष्म वस्तु मेरे को प्रत्यक्ष हैं। यदि उसकी बात पर आप विश्वास करने को हैं तब तो तीर्थङ्करों की विशेषता क्या है; सभी जीव सर्वज्ञ हैं। यदि आप नहीं मानते तो क्यों ?

(२) सूक्ष्म, अन्तरित, और दूरार्थ जैन तीर्थङ्करों के प्रत्यक्ष के विषय हैं, श्रुतज्ञान के विषय होने से। इन सूक्ष्म, अन्तरित और दूरार्थ पदार्थों को यह पक्षपात क्यों है कि ये जैन तीर्थङ्करोंके प्रत्यक्षके विषय हों अन्यों के नहीं ? क्या ये भी जैनी हैं ? जब जैन तीर्थङ्कर सर्वज्ञ सिद्ध हो लें तब यह सिद्ध हो कि सूक्ष्म आदि पदार्थ उनके प्रत्यक्ष का विषय है और तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता आधार इनका प्रत्यक्षत्व। इसी का नाम अन्योन्याश्रय दोष है। अन्य भी पूर्वोक्त सब दोष हैं।

(३) जैन तीर्थङ्कर सर्वज्ञ हैं, सकल पदार्थों के जानने का स्वभाव होने से, क्योंकि आवरण रहित हैं। इन विद्वानों को हेतु और साध्य का भी ज्ञान नहीं। सर्वज्ञत्व तो साध्य है और उसी को हेतु भी बना रहे हैं। यह बात ऐसी ही है जैसे कोई कहे कि अमुक मनुष्य ब्राह्मण है, ब्राह्मण होने से। भला सकल पदार्थों के जानने का स्वभाव और सर्वज्ञ एक ही अर्थ-वाचक हैं या अन्य अर्थवाचक ? दूसरी बात आवरण का नाश होना है; यह भी अभी साध्य है। क्योंकि उनका

आवरण नाश हो गया था, यह कब सिद्ध हो चुका है ? वास्तव में तो इन वाक्यों को हेतुओं के नाम से लिखना हेतु ज्ञान से अपनी अनभिज्ञता प्रगट करना है, क्यों कि ये सब प्रतिज्ञायें हैं।

एक और विचित्र हेत्वाभास—जैन तीर्थङ्कर सर्वज्ञ हैं, शब्दात्मक आगमके साक्षात् प्रतिपादन का अन्य आश्रय न होने से। धन्य है इस विद्वत्ता को ! भला शब्दात्मक आगम के साक्षात् प्रतिपादन का आश्रय, सिद्ध है या असिद्ध ? यदि सिद्ध होता तब तो यह शास्त्रार्थ का विषय ही न होता। अतः जैन विद्वानों को यह भी ज्ञान नहीं कि हम असिद्ध को हेतु लिख रहे हैं।

इसी प्रकारके हेत्वाभासोंसे चार पृष्ठ पूरे किये गये हैं। जैनविद्वानोंका कर्तव्य है कि वे अपने दिये हुये इन हेतुओंके पक्ष तथा विपक्ष और सपक्ष को बतलावें और यह भी लिखें कि ये हेतु केवलान्वयी हैं अथवा केवल व्यतिरेकी अथवा अन्वय व्यतिरेकी हैं। अथवा सर्वज्ञ सिद्धि के लिये नये हेतुओं की सृष्टि रची है ? हम तो सुनते थे कि जैन विद्वान् न्याय के बड़े विद्वान होते हैं, परन्तु इन दिये गये हेतुओं में दृष्टान्त का अभाव है, जो कि नैयायिकों के लिये शोभाप्रद नहीं। आशा है कि आगामी पत्र में ऐसी भूल न करेंगे तथा साध्य को अथवा पक्ष को और प्रतिज्ञा को हेतु के नाम से न लिखेंगे।

तीर्थङ्कर युक्ति

जैन तीर्थंकराः सर्वज्ञा न भवितुर्महन्ति शरीरधारित्वात् अस्मदादिवत्। जिस प्रकार शरीरधारी होने से आप और मैं सर्वज्ञ नहीं हैं, ऐसे ही शरीरधारी होने से जैन तीर्थंकर सर्वज्ञ नहीं थे। क्योंकि जो जो शरीरधारी होता है वह वह सर्वज्ञ नहीं होता, जैसे कि हम आप शरीरधारी होने से सर्वज्ञ नहीं। यत्र यत्र सशरीरित्वं तत्र तत्र सर्वज्ञताऽभावः, यह व्याप्ति रथ्यापुरुष में उभयवादि सम्मत स्पष्ट सिद्ध है। इस अभाव साधक अनुमान में प्रत्यक्षवाधा भी नहीं, क्योंकि अल्पज्ञता सहचारी शरीरधारी पना प्रत्यक्ष है। इसलिये इसको स्वरूपासिद्ध भी नहीं कह सकते तथा इसका अन्य कोई प्रमाण बाधक भी नहीं, क्योंकि हमारे आगम में तो किसी शरीरधारी को सर्वज्ञ माना नहीं, और आपके शास्त्र अभी तक साध्यकोटि में हैं। यह हेतु अनैकान्तिक भी नहीं क्योंकि साध्य के अभाव वाले में नहीं पाया जाता, प्रत्युत सर्वज्ञता के अभाव को छोड़कर शरीरधारित्व नहीं रहता। इस प्रकार मेरा यह अनुमान निर्दोष है। बस जब अनुमान निर्दोष है तो अनुमेय जो सर्वज्ञता का अभाव है उसको स्पष्ट सिद्ध कर दिया। तथा च आपके तीर्थंकर शरीर के आधीन होने से पराधीन भी थे और जो पराधीन होता है वह सुखस्वरूप और सर्वज्ञ नहीं हो सकता, क्योंकि दुःख का लक्षण हो पराधीनता है। तथा अन्य बातों में भी परतन्त्र थे। यथा जब आपके तीर्थंकर केवली हो गये थे तो

समोशरण (सभा) में उनकी वाणी नहीं खिरी, परन्तु इन्द्रभूति ब्राह्मण आ गया तो वाणी खिरी। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि सर्वज्ञदेव बोलना तो चाहते थे परन्तु एक मनुष्य के अभाव के कारण ऐसा न कर सके। इसलिये बिचारे इन्द्र को ब्राह्मण का रूप धारण करके वहाँ जाना पड़ा। वस सिद्ध है कि भगवान पराधीन थे। तथा च जहां जहां तरतमता है वहां वहां मर्य्यादा है। जिस प्रकार कोई आदमी एक हाथ कूद सकता है तो कोई पांच हाथ; सम्भव है कि कोई ५० या १०० हाथ भी कूद जावे, परन्तु यह कभी नहीं हो सकता कि वह अनन्तानन्त योजन कूद सकता है। इसी प्रकार एक मनुष्य मूर्ख है तो उसकी अपेक्षा दूसरा कुछ कम मूर्ख है, तीसरा उससे कम, तो चौथा विशेषज्ञ है। परन्तु इसमें यह कैसे हो सकता है कि वह सर्वज्ञ हो जावे अर्थात् तीनों कालों की और तीनों लोकों की सब बातें एक साथ जान सके।

इस पर हम इस प्रकार भी विचार कर सकते हैं कि एक मनुष्य को क्रोध आने से सौ डिग्री बुख़ार हो जाता है, उससे अधिक क्रोध आने से १०४ डिग्री बुख़ार हो जाता है और उससे अधिक से ११०, तो क्या यह भी सम्भव है कि उसको अनन्तानन्त डिग्री बुख़ार हो जावे।

सर्वज्ञ का अर्थ

वास्तव में सर्वज्ञ तथा सर्व शक्तिमान् आदि शब्दों का अर्थ समझने में लोगों ने बड़ी भारी भूल की है। यही कारण है

कि आज इस के कारण अनेक प्रकार की मिथ्या मान्यताएं संसार में फैल रही हैं। सबसे प्रथम महर्षि दयानन्दजी ने इन शब्दों के वास्तविक अर्थ मनुष्यों को खोलकर बतलाये; इसके लिये मनुष्य समाज उनका सर्वदा कृतज्ञ रहेगा। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश के सप्तम समुल्लास में इसको बिलकुल स्पष्ट कर दिया है। तथा हम भी यहाँ सर्वज्ञ के अर्थ पर विचार करते हैं। इस शब्द में जो सर्व शब्द आया है वही सम्पूर्ण झगड़ों का कारण है। परन्तु लोगों ने सर्व शब्द के व्यवहार पर दृष्टि नहीं दी। अतः जीव को सर्वज्ञ कह दिया, जो कि सर्वथा असम्भव है। किसी ने सभा में बैठे हुए कहा कि सब आ गये, कार्य आरम्भ करो; तो यहां सबका अर्थ उस सभा के सभासदों से है न कि अनन्तानन्त लोक से। तथा कोई व्यक्ति जैन मन्दिर में गया तो उससे किसी ने कहा कि यहां सब कुछ है, आप नित्य दर्शन दिया करें; तो यहां सब का अर्थ मन्दिर में होने योग्य सब चीज़ों का है। किसी ने कहा कि इस दुकान पर सब चीज़ें मिलती हैं और इस पर उस दुकानदार से कोई अनन्तानन्त लोक मांगने लगे तो लोग उसको ना समझ ही कहेंगे। इसी प्रकार अन्य बातों की व्यवस्था है। जैसे किसी ने कहा कि शास्त्रार्थ के लिये अमुक विद्वान् को बुलाओ, वह सब कुछ जानता है; तो इसका अर्थ तो इतना ही होगा कि वह पण्डित शास्त्रार्थ सम्बन्धी सब शास्त्र जानता है न कि यह अर्थ होगा कि वह तीनों

कालों की तथा तीनों लोकों की सम्पूर्ण बातों को जानता है। जैन शास्त्रों में भी सर्वज्ञ शब्द अनेक अर्थों में आया है। यथा नीति वाक्यामृत में लिखा है " लोकव्यवहारतोहि सर्वज्ञः" तथा च चन्द्रप्रभ चरित्र में पद्मनाभ राजा ने एक अवधिज्ञानी को सर्वज्ञ कहा है। इसी प्रकार अन्य भी कई स्थल हैं। वैद्यक शास्त्र में धनवन्तरी को सर्वज्ञ कहा है। उपरोक्त प्रमाणों से यह सिद्ध है कि पूर्व समय में सर्वज्ञ के अर्थ किसी विषय के विशेषज्ञ के थे। इस लिए अनेक सर्वज्ञ सर्व देशों में उत्पन्न होते थे। आज भी जैनी लोग शान्तिसागर जी आदि साधुओं को सर्वज्ञ मानने लगे हैं। एक समय आवेगा जब भगवान महावीर की तरह इनके भी अतिशयों की कल्पना हो जावेगी। सम्भव है इस विद्या के युग में ऐसा न हो सके, परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि पूर्व समय में इसी प्रकार धीरे २ लोग तीर्थङ्करों को सर्वज्ञ कहने लगे। पुनः सर्वज्ञत्व सिद्ध करने के लिये अतिशयों की कल्पना हुई और पुनः राजाओं को ख़ुश करने के लिए अनेक प्रकार के काव्य रचे गये, जिनमें अतिशयों का असम्भव अतिशय वर्णन है। पुनः इसके लिये तर्काभास भी गढ़े गये, परन्तु वे जीव को ईश्वर कैसे बना सकते थे?

(१) तथा च अनादि अल्पज्ञ होनेसे भी तीर्थङ्कर सर्वज्ञ नहीं हो सकते। आपके सिद्धान्तानुसार जीव अनादि काल से अल्पज्ञहै। बस जो वस्तु अनादि है, उसका कभी नाश नहीं हो सकता। और यदि अनादि वस्तु का भी नाश मानोगे तो लोक

का भी नाश हो जावेगा और स्वयं आत्मा का भी हो जावेगा। इस अवस्था में जैन सिद्धान्त ही नष्ट होगया। पुनः सर्वज्ञत्व कहाँ रहा?

(२) आपके इस कल्पित सर्वज्ञ वाद में एक प्रश्न और उपस्थित होता है कि एक सर्वज्ञ दूसरे सर्वज्ञ के ज्ञान को जान सकता है या नहीं? यदि जान सकता है तब तो सर्वज्ञों में परस्पर भेद रहा अर्थात् कोई बड़ा सर्वज्ञ रहा और कोई छोटा। यदि कहो कि नहीं तो वह सर्वज्ञ ही नहीं रहा। यदि कहो कि दोनों सर्वज्ञ समान शक्ति वाले हैं, इसलिये एक दूसरे के ज्ञान को जानते हैं, तो एक दूसरे के ज्ञान को जानने में ही एक दूसरे की शक्ति नष्ट हो जावेगी—अन्य पदार्थों को जान ही न सकेंगे। तथा जब एक ही सर्वज्ञ को जानने में जब एक सर्वज्ञ की सम्पूर्ण शक्ति नष्ट हो गई तो वह अब अनन्तानन्त सर्वज्ञों के ज्ञान को किस प्रकार जान सकता है? बस इसलिये अनेक सर्वज्ञों का मानना सर्वथा युक्ति एवं प्रमाण के विरुद्ध है; इसीलिए हेय है। और यदि कहो कि सर्वज्ञ सर्वज्ञ के ज्ञान को परोक्ष ज्ञान से जानता है, तो भी वह सर्वज्ञ नहीं रहेगा; क्योंकि उसको जानने के लिए अन्य परोक्ष प्रमाण की आवश्यकता पड़ गई। तथा आपका सिद्धांत भी ऐसे पुरुष को सर्वज्ञ मानने के लिए तैयार नहीं है।

(३) आपके सर्वज्ञों के इन्द्रियाँ भी होती हैं, क्योंकि वे शरीरधारी हैं। और इन्द्रियाँ एक समय में सम्पूर्ण

ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकतीं। पुनः आपके सर्वज्ञ वास्तविक सर्वज्ञ न हुये। यदि कहो कि वे इन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त नहीं करते थे तो आपके पास इसका क्या प्रमाण है? तथा जब उनके आँख थीं और वे चलते फिरते भी थें तो क्या सर्वज्ञ प्रज्ञा चक्षुओं की तरह चलते थे ? यदि ऐसा है तो उनको अवश्य कष्ट होता होगा। इस अवस्था में आपकी इस निस्सार कल्पना से क्या फल हुआ, इसका विचार आपही करें और आँखें ठीक होते हुये भी वे काम नहीं करती थीं, इसका क्या कारण था ? क्या जैन लोगों ने इन आँखों की परीक्षा किसी योग्य वैद्य से कराई थी ! तथा एक प्रश्न और उपस्थित होता है—वह यह है कि जब उनकी आंखें नहीं काम करती थीं तो अन्य इन्द्रियों की भी यही अवस्था होगी। इस अवस्था में उनके जो शीत उष्ण आदि परीषह कहे हैं, वह भी व्यर्थ होगा।

(४) आपके सर्वज्ञ निद्रा लेते थे या नहीं? यदि लेते थे तब तो निद्रा अवस्था में ज्ञान का अभाव होता है। यदि नहीं लेते थे तो रोग के शिकार होते होंगे, क्योंकि निद्रा तो शरीर का धर्म है और यह ज्ञानी और अज्ञानी सब के लिये आवश्यक है।

ह० सोहनलाल आर्य, मंत्री आर्यसमाज, पानीपत।

---

[२]

जैनसमाज का पत्र

[तारीख़ ९-११-३३—समय ४ बजे सायंकाल]

हमारा ध्यान था कि आर्यसमाज पहिले शास्त्रार्थ के अनुभव से लाभ उठाकर कमसे कम इस शास्त्रार्थ के कार्य को किसी योग्य दार्शनिक विद्वान के हाथ में सौंपेगा, किन्तु उसने ऐसा नहीं किया, जिसका परिणाम उसके सामने है। आर्यसमाज के विद्वान् लिखते हैं कि सर्वज्ञ का अर्थ विशेषज्ञ है, इससे आर्यसमाज 'सिद्धान्त हानि निग्रह स्थान' का पात्र तो बनही गया, किन्तु उसके ऐसा स्वीकार करने से आर्यसमाज की जड़ पर भी कुठाराघात हुआ है। हम पर तो इसका प्रभाव ही क्या हो सकता है, क्योंकि यह बात अनेक प्रमाणों से असिद्ध है; किन्तु आर्यसमाज का अवश्य सफ़ाया होता है क्योंकि उसके विद्वान सर्वज्ञ का अर्थ बहुज्ञ स्वीकार कर चुके हैं। अब आर्यसमाज का परमात्मा त्रिलोकज्ञ और त्रिकालज्ञ नहीं हो सकेगा और ऐसा होने से समस्त कर्तृत्ववाद जिसके लिये यहां चार दिन तक विवाद होता रहाहै और वेद प्रकाश आदि साहित्य स्वयं खंडित हो जाते हैं। आर्यसमाज पानीपत को स्मरण रहे कि अब कम

से कम जैन समाज के सामने तो वह अपने इस कार्य का कोई प्रायश्चित न कर सकेगा, अस्तु। आर्यसमाज ने हमारे अनुमेयत्व हेतु में तीन दोष दिये हैं--सत्प्रतिपक्ष, आश्रयासिद्ध और अनैकान्तिक। पहिले दोष के सम्बन्ध में हमारा निवेदन है कि सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास हो ही नहीं सकता। जिन दार्शनिकों ने सत्प्रतिपक्ष को हेत्वाभास माना है,यह उनकी दार्शनिक भूल का परिणाम है। क्या आर्यसमाज के दार्शनिक विद्वान बतला सकते हैं कि वह साधन जिसके द्वारा वादी के साधन को सत्प्रतिपक्ष बतलाया जाता है अपने प्रतिपक्षी साधन के समान बलवाला है या असमान बलवाला है? यदि समान बलवाला है तो एक पदार्थ में समान बल वाले दो हेतुओंसे सिद्ध होनेवाली दो बातें सर्वथा रही हैं या कथञ्चित। यदि सर्वथा तब तो असिद्ध है, क्योंकि परस्पर दो विरोधी बातें एक दृष्टि से एक जगह नहीं रह सकतीं। यदि दृष्टि विशेष से एक स्थान में दो हेतु दो बातों को सिद्ध करते हैं तब तो वे परस्पर विरोधी हो ही नहीं सकते, क्यों कि एक ही आश्रय में दृष्टि विशेष से दो धर्म रह सकते हैं। यदि वे दोनों साधन असमान बलशाली हैं तब तो जो निर्बल है वह हेत्वाभास है और उसका असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक आदि में से किसी में अन्तर्भाव किया जा सकता है और जो सबल है वह हेतु है। इस प्रकार सत्प्रतिपक्ष नाम का कोई हेतु दोष नहीं है। आगे हमारे अनुमेय हेतु के सम्बन्ध में आर्यसमाज ने जो आश्रयासिद्ध दोष का उद्भावन

किया है उसने समाजी नैयायिकों की न्याय बुद्धि का दिवाला निकाल दिया है। क्या आर्यसमाज परमाणु आदिक को नहीं मानता या उनमें अनुमान विषयता को नहीं मानता, दोनों ही हालतों में आर्यसमाजकी सिद्धान्त-हानि है क्योंकि आर्यसमाज की मान्यता के अनुसार परमाणु आदिक भी हैं और उनमें अनुमान-विषयता भी मौजूद है। अनुमान भी इस बात का समर्थन करता है कि परमाणु आदि हैं स्कन्ध की अर्थानुपपत्ति होने से; अतः स्पष्ट है कि आर्यसमाज का उक्त दूषण निराधार और मिथ्या है। हमारे अनुमेयत्व साधन में अनैकान्तिक दोष को दिखला कर तो आर्यसमाज के विद्वानों ने अपने न्याय शास्त्र विषयक ज्ञान की हंसी उड़वाने का अच्छा अवसर दे दिया है। हम आर्यसमाज को बतला देना चाहते हैं कि यदि देवदत्तादिक में अर्हत् प्रत्यक्षताके अभावमें अनुमेयत्व हेतु रहता, तब तो हमारा अनुमेयत्वसाधन अनैकान्तिक होसकता था, किंतु ऐसा नहीं है। देवदत्त जैसा स्थूल पदार्थ भी, जिसे साधारण ज्ञानी भी इन्द्रियों के द्वारा जान और देख सकते हैं, अर्हत का प्रत्यक्ष न हो, इसे कौन बुद्धिमान स्वीकार करेगा? अतः अनुमेयत्व हेतु में अनैकान्तिक दोष सर्वथा असङ्गत है। जैन तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता की सिद्धि में हमारा तीसरा हेतु श्रुतज्ञानाधिगम्यत्व है। इसपर आर्यसमाज कहता है कि क्या विषयों को भी पक्षपात है कि वे जैन तीर्थङ्करों के ज्ञान के द्वारा ही जाने जायं तथा उक्त हेतु में आर्यसमाज ने अन्योन्याश्रय दोष भी दिया है

अर्थात् जब सर्वज्ञता सिद्ध हो तब साधन सिद्ध हो और जब साधन सिद्ध हो तब सर्वज्ञता सिद्ध हो। पहली बातके सम्बन्ध में हमारा कहना है कि पदार्थों का सम्बन्ध किसी व्यक्ति विशेष से नहीं है और न इस दोष का इस अनुमान से ही कोई सम्बन्ध है। अन्योन्याश्रय दोष के बारे में आपको जानना चाहिये कि श्रुतज्ञानाधिगम्यत्व और सर्वज्ञता का ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है कि जिससे श्रुतज्ञानाधिगम्यत्व के बिना सर्वज्ञता न हो और सर्वज्ञता के बिना श्रुतज्ञानाधिगम्यत्व न हो। जिन दो पदार्थों में इस ढंग का परस्पराश्रित संबंध होता है, वहीं अन्योन्याश्रय दोष आता है; इससे स्पष्ट है कि श्रुतज्ञानाधिगम्यत्व भी साधन ही है, न कि साधनाभास। अतः यह निर्बाध हेतु जैन तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता को सिद्ध करता है। "शब्दात्मक आगम के साक्षात प्रतिपादन का दूसरा आश्रय न होने से," हमारे इस चौथे साधन में आर्यसमाज की तरफ़ से एक भी दूषण नहीं दिया जा सका, केवल इतना पूछा गया है कि यह हेतु सिद्ध है या असिद्ध। इसके उत्तरमें हमारा कहना है कि यह हेतु सिद्ध ही है, असिद्ध नहीं। साध्य की सिद्धि के लिये सिद्ध हेतुओं का ही प्रयोग किया जाता है। आगे चलकर आर्यसमाज के विद्वान हमसे पूछते हैं कि इन हेतुओं के पक्ष, विपक्ष और सपक्ष बतलाओ और यह भी लिखो कि यह हेतु केवल व्यतिरेकी हैं वा केवलान्वयी हैं अथवा अन्वय व्यतिरेकी हैं। इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि यह शास्त्रार्थ है,

शिक्षाशाला नहीं। शास्त्रार्थ में न्याय शास्त्र के प्रारम्भिक विद्यार्थी को जिन बातों का ज्ञान होना आवश्यक है, आर्य-समाज के शास्त्रार्थेच्छुक विद्वानों को उन बातों का भी पता नहीं और वे ऐसी बातों को हमसे पूछकर व्यर्थ में क्यों अपनी हंसी उड़वाना चाहते हैं? हमारा कार्य साधन को उपस्थित करना है और आर्यसमाज का कार्य यदि उसे जँचे तो उसमें दूषण बतलाना है। स्वयं दूषण न जानकर हमसे बालकों जैसे प्रश्न करना उसे शोभा नहीं देता, अस्तु। प्रकृत सर्वज्ञता की सिद्धि में हमने एक साधन "सकल पदार्थों के जानने का स्वभाव होते हुए आवरण रहित होने से," दिया था। इसपर आर्यसमाज कहता है कि यहां साध्य भी वही है और साधन भी वही है; इसके साथ ही आर्य विद्वानों ने जैन विद्वानों को हेतु ज्ञान से शून्य भी बतलाया है। आर्य विद्वानों का ऐसा लिखना, "चोर का कोतवाल को डांटने" की कहावत को चरितार्थ करता है। यदि आर्य विद्वानों को हेतु तथा हेत्वा-भासों का ज्ञान होता तो वे इस प्रथम पत्र में ही वे सिर पैर की बातें लिखने का साहस न करते। सर्वज्ञता एक भिन्न बात है और संपूर्ण पदार्थों के जानने का स्वभाव होना एक भिन्न बात है। शक्ति होना दूसरी बात है और उस शक्ति की व्यक्ति होना दूसरी बात है। संपूर्ण पदार्थों के जानने का स्वभाव तो हमारा भी है, किन्तु हम सर्वज्ञ नहीं हैं। जिस तरह चन्द्रकान्तमणि से प्रतिबन्धित अग्नि में दाहकत्व शक्ति है

किन्तु उस समय उसकी व्यक्ति नहीं। मणि का सम्बन्ध दूर हो जाने पर दाहकत्व शक्ति की व्यक्ति हो जाती है उसी तरह आवरणों के सद्भाव में सम्पूर्ण पदार्थों के जानने का स्वभाव होते हुए भी सर्वज्ञता व्यक्त नहीं होती, आवरणों का अभाव हो जाने पर वह व्यक्त हो जाती है। अतः "सर्वज्ञता" साध्य और "सम्पूर्ण पदार्थों के जानने का स्वभाव होते हुए आवरण रहित होना" साधन, दोनों एक ही नहीं हैं किन्तु बिल्कुल भिन्न २ हैं। आवरणों के सर्वथा अभाव के समर्थन में पहिले पत्र में हम प्रमाण दे चुके हैं, जिसके सम्बन्ध में आर्यसमाज मौन है। अब रह जाता है कि यह दोषाभाव जैन तीर्थङ्करों में ही क्यों घटित होता है सो सुनिये—सम्पूर्ण आवरणों का अभाव जैन तीर्थङ्करों में ही था, उनके निर्दोष होने से। वे निर्दोष थे, उनके मोक्ष और उसके कारण तथा संसार और उसके कारणों के उपदेश के अखण्डित होने से। जहां ऊपर का अनुमान सम्पूर्ण दोषों का अभाव प्रमाणित करता है वहीं उसके बाद का अनुमान जैन-तीर्थङ्करों में ही आवरणाभाव सिद्ध करता है। इससे प्रगट है कि जैन तीर्थङ्कर सम्पूर्ण पदार्थों के जानने का स्वभाव होते हुए सम्पूर्ण आवरणों से रहित हैं, अतः यह हेतु ही उनमें सर्वज्ञता सिद्ध करता है। हमारे इस लम्बे विवेचन से यह प्रगट है कि जैन तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता को सिद्ध करने के लिये जैन समाज की ओर से जो अनुमान उपस्थित किये गए थे वे निर्दोष हैं और आर्यसमाज ने उनमें दोषोद्भावन करके अच्छा कार्य नहीं

किया है । जैन तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता के विरोध में आर्यसमाजने दो अनुमान दिये हैं; पहिला अनुमान इस प्रकार है—अनुमेय हेतु से जिस प्रकार जैन तीर्थङ्करों में सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों की प्रत्यक्षता सिद्ध की जा सकती है, उसी प्रकार देवदत्त में भी सिद्ध की जा सकती है; अतः वह भी सर्वज्ञ सिद्ध हो जायगा । आर्यसमाज को मालूम होना चाहिये कि यद्वातद्वा वस्तु साध्य कोटि में नहीं आसकती । साध्य को अबाधित (नहीं) होना चाहिये । यदि कोई कहने लगे कि अग्नि ठंडी होती है द्रव्य होने से जल की तरह, तो यह उसकी मूर्खता कहलायेगी; क्यों कि अग्नि की शीतलता प्रत्यक्ष बाधित है और इसलिये वह साध्य नहीं बनाई जा सकती । ठीक ऐसी ही बात देवदत्त के सम्बन्ध में भी है, देवदत्त में सर्वज्ञता को साध्य बनाना प्रत्यक्ष बाधित है, अतः वहां सर्वज्ञता साध्य नहीं बनाई जासकती और इसलिये जैन तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता के विषय में आर्यसमाज की उक्त आपत्ति निराधार है । आर्यसमाज का दूसरा अनुमान इस प्रकार है कि—जैन तीर्थङ्कर सर्वज्ञ नहीं होते, क्योंकि वे सशरीरी हैं । क्या आर्यसमाज बतला सकता है कि सर्वज्ञता और सशरीरित्व का विरोध क्या वस्तु है, द्रव्य है, गुण है या कोई अन्य पदार्थ ? यदि द्रव्य है तो इसका सर्वज्ञता और सशरीरित्व के साथ क्या सम्बन्ध है और वह उनको एक स्थान पर क्यों नहीं रहने देता । यदि गुण है तो वह कौनसा है और दोनों का है या एक का गुण ? यदि दोनों

का गुण है तो उनका विरोध ही क्यों और यदि एक का ही है तो वह दूसरे को वहां क्यों नहीं रहने देता ? अन्य पदार्थ के सम्बन्ध में भी यही दोष आते हैं तथा सशरीरित्व और सर्वज्ञत्व में कौनसा विरोध है, परस्पर परिहार स्थिति लक्षण रूप, वध्यघातक रूप या सहानुवस्थानुरूप। ये तीनों ही प्रकार के विरोध सत् स्वरूप पदार्थों में ही होते हैं। यदि आप सर्वज्ञता को वस्तुभूत मानकर विरोध घटायेंगे तब तो सर्वज्ञता ही सिद्ध हो जाएगी और यदि बिना माने, तो विरोध ही कैसा ? अतः स्पष्ट है कि शरीर के साथ सर्वज्ञता का विरोध बतलाना आर्यसमाज की अज्ञानता है दूसरी बात यह है कि आपके मान्य शास्त्रों में भी सशरीर को सर्वज्ञ बतलाया है। देखो— "तदा सर्वावरण मलापेतस्य ज्ञानस्यो आनन्त्याज् ज्ञेयमल्पम्" (योगदर्शन कैवल्यपाद सूत्र ३१) अर्थात् उस समय सम्पूर्ण आवरण रूप मलों के नाश से ज्ञान अनन्त हो जाता है और ज्ञेय थोड़े हो जाते हैं। यह अवस्था सशरीरी की है। और भी देखो—एतरेय उप० २—१—५—६। ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पृष्ठ १८४। मुण्डक ३—२—९। बृहद्० ४—४—२५ और १—४—२२। वेदान्तसूत्र ३—२—२—६। इससे स्पष्ट है कि आर्यसमाज की विपत्ति मिथ्या है। आर्यसमाज ने जैन तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता के विषय में एक आपत्ति यह भी उपस्थित की है कि जैन तीर्थङ्कर अनादि काल से अल्पज्ञ हैं, अतः वे सर्वज्ञ नहीं हो सकते। हम आर्य समाज से पूछते हैं कि उसने जैन

तीर्थङ्करों की अनादि अल्पज्ञता शक्ति की दृष्टि से मानी है या व्यक्ति की दृष्टि से ? यदि शक्ति की दृष्टि से, तब तो आर्यसमाज का कोरा भ्रम है। जैन तीर्थङ्कर शक्ति की दृष्टि से अनादि अल्पज्ञ नहीं हैं। इसके समर्थन में चौथे अनुमान के दोष निरा· करण करते समय अनेक प्रमाण उपस्थित कर आये हैं और यदि व्यक्ति की दृष्टि अभिप्रेत है तो वह सर्वज्ञता की बाधक नहीं, क्योंकि निमित्त मिलने पर अनादि शक्ति की व्यक्ति हो सकती है। अनादि वस्तु का नाश नहीं होता। आर्यसमाज का यह एकान्त पक्ष अत्यन्त भ्रमपूर्ण है। उसे अपने प्रागभाव पर ही दृष्टि ले जानी चाहिये। प्रागभाव अनादि होते हुए भी सान्त है। वैशेषिक दर्शन को देखिये—क्रिया गुण व्यपदेशाभावात् प्रागसत् ९-१-१ अर्थात् जो क्रिया और गुणके विशेष निमित्त के अभाव से प्राग अर्थात् पहिले न था। उत्पत्ति के पूर्व वस्तु के अभाव को प्रागभाव कहते हैं, अतः अनादि का नाश न मानना आर्यसमाज की अज्ञानता का परिचायक है। तरतमता से किसी की सान्तता को सिद्ध करना भी आर्यसमाज की भारी भूल है। परिमाण में तरतमता है, फिर भी वह परम प्रकर्ष को प्राप्त हो कर अनन्त होता है। आकाश इसका ज्वलन्त उदाहरण है। जब कि तरतमता वाली वस्तुएं भी अनन्त हैं फिर भी इसही आधार से ज्ञान की अनन्तता का अभाव कैसे किया जा सकता है। आर्यसमाज ने जिस कूदने को दृष्टान्त में लिया है वह भी परिमाण से सम्बन्ध रखता है। वहां क्रिया में कमी वेशी नहीं है,

किन्तु लम्बाई चौड़ाई में है जो कि परिमाण का दूसरा नाम है। अतः यह परिमाण अनन्त है और वह आकाश में है। अतः आर्यसमाज की यह आपत्ति सर्वज्ञता की साधक है बाधक नहीं। इस ही सम्बन्ध में हमारे आर्य विद्वानों ने दो तीन छोटी मोटी बातें भी बाधा के रूप में लिखी हैं। एक निद्रा, दूसरा इन्द्रियों के द्वारा जानना और तीसरा एक सर्वज्ञ का दूसरे सर्वज्ञ के ज्ञान को जानना। पहली दो बातों के सम्बन्ध में आर्यसमाज को अपने मान्य महर्षि पातञ्जलि के योगदर्शन को देखना चाहिये। वहां योगियों में इन दोनों बातों का अभाव माना है। तीसरी बात के सम्बन्ध में हमारा वक्तव्य निम्नप्रकार है :—एक सर्वज्ञ का ज्ञान दूसरे सर्वज्ञ के ज्ञान को जानता है, इसका यह मतलब नहीं कि उसके जानने वाले को भी उसके जानने में उतनी ही शक्ति उपयोग में आती है जितनी की उसकी अपने ज्ञेयों के जानने में। दर्पण ही को लीजिए, उसमें अनेक पदार्थ प्रतिबिंबित हो रहे हैं, किन्तु उसके जानने के लिये उतनी शक्ति की आवश्यकता नहीं जितनी कि उन पदार्थों के पृथक् २ जानने में आवश्यक होती। जिस प्रकार अनेक पदार्थों को अपने में प्रतिबिंबित करना दर्पण का एक स्वभाव है और उस स्वभाव के अनुसार कार्यान्वित दर्पण को जानना एक पदार्थ का जानना है। उसही प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों को प्रकाशित करना पूर्ण शुद्ध ज्ञान का एक स्वभाव है और इस स्वभाव के अनुसार कार्यान्वित ज्ञान को जानना एक पदार्थ को जानना है। यहां हम आर्य-

समाज को यह बतला देना चाहते हैं कि इस प्रकार के नकल-चीपने से जैन तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता का बाल भी बांका नहीं हो सकता। आर्यसमाज जिस जैनजगत की नक़ल करके यह बातें पूछ रहा है, उसको इनके जवाब के लिये "जैनदर्शन" पत्र को देखना चाहिये। उसमें इन सब बातों के समाधान किये जा चुके हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आर्यसमाज की आपत्तियां निराधार हैं तथा सर्वज्ञता साधक हमारी युक्तियाँ अखण्डित एवं प्रामाणिक हैं। अतः निश्चित है कि जैन तीर्थङ्कर सर्वज्ञ हैं।

खुद को खुदी में देख, खुदी को निकालदे।
फिर तू ही खुद कहेगा कि खुद खुदा हूँ मैं॥

ह० मुनिसुव्रतदास जैन,
प्रतिनिधि जैन समाज, पानीपत।

आर्यसमाज का उत्तरपत्र

[तारीख ९-११-३३—समय ८ बजे रात्रि]

जैन समाज ने बड़ा ही प्रयत्न किया कि हमारे यहां इस समय कोई विद्वान् आ जाय, परन्तु पंचम (!) काल के प्रभाव से प्रभावित होकर आज सब जैन विद्वान् जैनियों के कपोल कल्पित ऊट पटांग सिद्धान्तों की वह छीछालेदर कर रहे हैं कि

जिससे जैन समाज की जड़ उखड़ चुकी है। अब आर्यसमाज के तर्करूप प्रबलवायुसे वह कपोल कल्पित वृक्ष (जैन सिद्धान्तों का) गिर चुका है। इस तर्करूपी भूचाल के सामने कौन विद्वान् आकर अपनी मिट्टी पलीत करवाता? विवश होकर जैन समाज को जैसे तैसे काम चलाना पड़ा। परन्तु इस शास्त्रार्थ के प्रारम्भ में ही जैन समाज ने अपने दाँत दिखला दिये। जैन समाज के आये हुए विद्वानों को तो हेतु के लक्षण का भी पता नहीं। इसीलिये बिचारे पंचमी प्रयोग करके हेतु के नाम से कुछ शब्द लिख देते हैं। भला हमने जब यह पूछा कि आपका यह हेतु तीन प्रकार के हेतुओं में से कौनसा है? तो गाली-प्रदान करने लगे। 'ददतु ददतु गालीं, गालिवन्तोभवन्तः' परंतु हम इन गालियों का तद्वत् उत्तर देकर सभ्यता को कलंकित करना नहीं चाहते। शास्त्रार्थ का विषय यह है कि "क्या जैन तीर्थंकर सर्वज्ञ हैं?" उसके लिये जैन समाज का कर्तव्य था कि वह पहिले सर्वज्ञ का लक्षण करता। पुनः वह उन लक्षणों को तीर्थंकरों में घटित करता। परन्तु ऐसा न करके केवल प्रतिज्ञामात्र करता है। और प्रथम शास्त्रार्थ में जैन समाज की तरफ़ से दिये पड़ोसिन के पुत्र की प्रशंसा के दृष्टान्त को चरितार्थ करता है। भला जैन तीर्थंकर सर्वज्ञ थे, आवरणरहित थे, तीन लोक और तीन काल की बात जानते थे, योगी थे, वे स्थूल सूक्ष्म अन्तरित पदार्थों को प्रत्यक्ष देखते थे, ऐसा होना उनका स्वभाव था, इत्यादि २।

अब इन देवानांप्रियों से कोई पूछे कि इनमें प्रतिज्ञा और हेतु कौन कौन से हैं? तो गालिप्रदान के सिवाय उत्तर हो ही क्या सकता है? क्योंकि उन्होंने अपने शास्त्रों में ऐसी बातों के सिवाय पढ़ा ही क्या है? हमने आपसे अनुरोध किया था कि हेतु दृष्टान्त सहित देवें, परन्तु आपने इस पर कुछ ध्यान नहीं दिया। देते भी कैसे? जब आपने हेतु कोई दिया ही नहीं, केवल पंचमी प्रयोग किया है। हमने आपकी तरफ़ से आये समस्त हेतुओं को देवदत्तादि समस्त सर्वसाधारण में घटाया था। आप कहते हैं कि "यद्वा तद्वा वस्तु साध्य कोटि में नहीं आ सकती, क्योंकि साध्य को अबाधित नहीं होना चाहिये"। वाहरे पाण्डित्य! क्या साध्य को बाधित होना चाहिये? और श्रीमान् जी जैन तीर्थङ्कर भी यद्वा तद्वा हैं या नहीं, यह भी तो अभी साध्य कोटि में है। सत्प्रतिपक्ष को हेत्वाभास न बतला कर जैन समाज के विद्वानों ने अपनी विद्या का दिवाला निकाल दिया तथा आश्रयासिद्ध हेतु का जो खंडन करने का प्रयत्न किया है वह बड़ी भारी भूल है।

जैन समाज के विद्वानों को उचित था कि प्रथम वे अपना दिया हुआ अनुमान पढ़ लेते फिर हमारे प्रदर्शित दोष का परिहार करने का प्रयत्न करते। आपका उल्लिखित अनुमान यह है कि सूक्ष्म व्यवहित (भूत भविष्यत काल के पदार्थ) जैन तीर्थङ्करों के प्रत्यक्ष के विषय हैं। भला भविष्यत् काल के पदार्थों को जैन समाज ने कहाँ बैठ कर सिद्ध किया था?

और भूतकाल के भी अनन्तानन्त लोकों के अनन्तानन्त पदार्थों का वर्णन जो जैन शास्त्रों में सर्वज्ञ महाराजों ने किया है वह कौनसी प्रयोगशाला में बैठकर किन यन्त्रों द्वारा किया है ? और उसमें क्या प्रमाण ? बस, जब ये स्वयं असिद्ध हैं तो इनको सिद्धि में प्रयुक्त करना आश्रयासिद्ध का ज्वलन्त उदाहरण है। रह गया 'अनैकान्तिक', सो तो श्रीमान् जी आपको अनैकान्तिक हेत्वाभासों का भी ज्ञान नहीं है और "उल्टा चोर कोतवाल को डांटे" वाली कहावत को पहिले से लिखकर हमको रोकना चाहते हैं। भगवन्, यहाँ असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास है। हम नम्र निवेदन करते हैं कि प्रकृत विषय को छोड़कर विषयान्तर में न जावें और "तीर्थङ्कर सर्वज्ञता" सिद्धयर्थ कोई हेतु हो तो दें। एक उदाहरण आपने रेखा गणित का दिया है। अच्छा होता कि किसी गुरू से जाकर रेखागणित सीख आते। भला इस सामान्य स्वयं सिद्ध बात को तीर्थङ्करों में घटाकर उनकी सर्वज्ञता के बजाय अल्पज्ञता सिद्ध करदी। प्रथम तो प्रत्येक वस्तु जीवात्मा के प्रत्यक्ष का विषय है, यही असिद्ध है। यदि अभ्युपगम सिद्धान्तानुसार यह मान भी लें तो प्रत्येक जीवात्मा एक ही समय में सम्पूर्ण वस्तुओं को प्रत्यक्ष देख सकता है, यही असम्भव है। और आपको सन्तुष्ट करने के लिये यह भी मानलें तो भी तीर्थङ्कर ऐसे थे, यह इन रेखागणित की लकीरों ने कैसे सिद्ध कर दिया ? वास्तव में तो आपकी इन लकीरों ने तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता पर लकीर फेर

दी। मालूम नहीं आज आप ऐसे विरुद्ध प्रमाणाभासों का आश्रय क्यों ले रहे हैं? यही अवस्था आपके अन्य साधनों की है।

क्या तीर्थङ्कर सर्वज्ञ थे ?

दिगम्बर जैन समाज का सिद्धान्त है कि हमारे तीर्थङ्कर सर्वज्ञ थे, परन्तु युक्ति और प्रमाणों से यह सिद्ध नहीं होता कि कोई भी जीव सर्वज्ञ हो जाता है; क्योंकि हम संसार में किसी भी मनुष्य को सर्वज्ञ नहीं देखते। इसलिये इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण तो है ही नहीं; जब प्रत्यक्ष ही नहीं है तो अनुमान कैसे हो सकता है? क्योंकि वह तो प्रत्यक्ष पूर्वक ही होता है। बस जब अनुमान ही नहीं तो उपमान कहां से आयेगा?

यदि आप कहें कि इसमें शब्द प्रमाण है अर्थात् हमारे शास्त्रों में लिखा है तो यह साध्यसम है। क्योंकि अभी तक आपके शास्त्र भी इस विषय में सत्य सिद्ध नहीं हो चुके हैं। तथा च एक प्रश्न और भी उत्पन्न होता है कि आपके शास्त्र सर्वज्ञ रचित हैं या अल्पज्ञ रचित। यदि कहो कि सर्वज्ञ रचित, तब तो अन्योन्याश्रयदोष और यदि कहो कि अल्पज्ञ रचित, तो वे अप्रमाणिक हो गये। फिर आपने कैसे जाना कि तीर्थङ्कर सर्वज्ञ थे; क्या तीर्थङ्करों ने कहा था कि हम सर्वज्ञ हैं अथवा किसी अन्य व्यक्ति ने? यदि कहो कि तीर्थङ्करों ने, तब तो आत्म-प्रशंसा दोष होता है और यदि कहो कि अन्य व्यक्ति ने कहा तो पुनः वही प्रश्न उपस्थित होता है कि उस व्यक्ति ने किस

प्रकार जाना कि तीर्थङ्कर सर्वज्ञ हैं अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से अथवा अनुमान से ? यदि कहो कि प्रत्यक्ष से तो असम्भव दोष, क्योंकि एक अल्पज्ञ व्यक्ति सर्वज्ञ को प्रत्यक्ष कैसे जान सकता है और यदि जान लेगा तो क्या वह अल्पज्ञ कहला सकता है ? बस उपरोक्त तर्क से सिद्ध है कि जैन तीर्थङ्कर सर्वज्ञ नहीं हो सकते। न्याय की शैली से जिसका आलापन इस प्रकार किया जा सकता है कि "जैन तीर्थङ्कराः सर्वज्ञा न भवितुमर्हन्ति प्रमाणाभावात् अल्पज्ञत्वा च रथ्यापुरुषवत्"। तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता में कोई प्रमाण नहीं है, यह तो हम पूर्व सिद्ध कर ही चुके। परन्तु वे अल्पज्ञ थे, इसमें भी किसी को सन्देह नहीं हो सकता; क्योंकि जैन शास्त्रों में सर्वज्ञत्व का अर्थ है जो तीनों कालों की तथा तीनों लोकों की एवं सम्पूर्ण प्राणियों की सब बातों को एक साथ जाने, परन्तु यह नितान्त असम्भव है कि एकदेशी अल्प शक्ति सम्पन्न यह विचारा जीव ऐसा कर सके, क्योंकि जीव एकदेशी होने से साधनों द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है। और यह तो प्रत्यक्ष है कि इसके पास जो साधन हैं वे इतने शक्ति सम्पन्न न तो हैं और न हो सकते हैं कि वे तीनों लोकों की और तीनों कालों की सब घटनायें एक साथ जान सकें और जो बातें हो चुकी हैं, और जो होने वाली हैं, उन्हें एक साथ कोई व्यक्ति जानता है, यह कथन किस प्रकार युक्तियुक्त माना जा सकता है। और यदि कोई व्यक्ति ऐसा कहता है, तो बिना प्रमाण की बातपर क्यों विश्वास किया जावे। तथा आपके

शास्त्रों से भी यह बात सिद्ध होती है कि तीर्थङ्कर भगवान तीनों कालों को नहीं जानते थे। आपके कथनानुसार आपके प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ हुये हैं (यद्यपि इतिहास से तीर्थङ्करों की सिद्धि नहीं होती, जिसका वर्णन हम आगे चलकर करेंगे)। हम आदि में उन्हीं को अल्पज्ञ सिद्ध करते हैं। आदिपुराण पर्व ४१ श्लोक ४४ से ५५ तक में एक कथा है कि— भरत महाराज एक दिन आदिनाथ जी के पास गये और प्रश्न किया कि महाराज मैंने ब्राह्मणों की उत्पत्ति की है, सो यह कार्य अच्छा किया है या बुरा ? इसका उत्तर आदिनाथ जी ने यह दिया कि जब कलयुग समीप आवेगा तब ये लोग अपनी जाति के अभिमान से भ्रष्टाचारी होकर जैनधर्म के विरोधी बन जावेंगे और जाति के अभिमान से अपने को सब लोगों से बड़ा समझ कर धन की इच्छा से मिथ्या शास्त्रों द्वारा सब लोगों को मोहित करते रहेंगे और यह अधर्मी लोग प्राणियों की हिंसा करने में तत्पर हो जावेंगे तथा शराब और मांस को अच्छा समझेंगे एवं हिंसा धर्म का प्रचार करेंगे; पाप के चिन्ह स्वरूप जनेऊ को धारण करने वाले तथा जीवों को मारने में संलग्न ये दुष्ट आगामी (कलयुग में) काल में श्रेष्ठ मार्ग के विरोधी हो जावेंगे, इत्यादि। जिन शब्दों का प्रयोग यहां सर्वज्ञ भगवान ने किया है, उन शब्दों से ही उनके राग द्वेष की अन्तिम सीमा प्रगट होती है। जिन शब्दों पर हमने लाइन दी है वे शब्द ही उनकी अल्पज्ञता के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

प्रत्येक साहित्यज्ञ जान सकता है कि वक्ता के अन्दर किस प्रकार द्वेषाग्नि प्रज्वलित हो रही है। यदि हम सभ्यता के नाते इसकी विशेष समालोचना न भी करें तो भी यह तो प्रत्यक्ष है कि वक्ता के पास अपने मनोविचार प्रगट करने के लिये सभ्य और सुन्दर भाषा का तो नितान्त अभाव ही था। इस अवस्था में कोई विचारक व्यक्ति उनको किस प्रकार सर्वज्ञ मानले ? अस्तु; आगे चलकर इसी पुराण के पर्व ४२ श्लोक १८१ से १९२ तक में लिखा है कि—एक समय भरत महाराज ने अपने यहाँ आये हुए समस्त राजाओं को उपदेश दिया, जिसका अभिप्राय यह है कि जो शास्त्रों द्वारा अपनी आजीविका करते हैं वे अक्षर म्लेच्छ हैं, सब राजाओं को उचित है कि उनपर अन्य किसानों की तरह कर लगावें; यह अधम द्विज (ब्राह्मण) अपनी जाति के अभिमान में आकर हिंसा की पुष्टि करने वाले शास्त्रों के अर्थों को बहुत मानते हैं, इत्यादि सम्पूर्ण कथन अक्षरशः वैसा ही है जैसा कि भगवान ने कलयुग में होने को कहा था। तथा इसी ग्रन्थ के पर्व १६ श्लोक २४५में लिखा है कि भगवान आदिनाथ ने यह घोषणा की कि चौथा वर्ण (ब्राह्मण) भरत महाराज स्थापित करेंगे, अर्थात् तीन वर्ण शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय तो भगवान ने स्थापित किये और चौथा वर्ण भरत महाराज पर छोड़ दिया। अब विचारणीय बात यह है कि यदि आदिनाथ जी सर्वज्ञ होते तो उनको यह ज्ञान होना चाहिये था कि मैं ने ही पहिले भरत को यह आज्ञा दी थी कि वह चौथा वर्ण स्था·

पित करे, परन्तु उनको उस समय जबकि भरत महाराज ने प्रश्न किया था यह बात याद नहीं थी। यदि याद होती तो सर्वज्ञ महाराज भरत से कहते कि आप इसमें क्यों घबराते हैं, यह कार्य तो आपने हमारी इच्छा के अनुकूल किया है। परन्तु ऐसा न कहकर केवल भविष्य की बात बतलाने लगे। सम्भव है उस समय उनको अपने सर्वज्ञत्व सिद्ध करने की अधिक धुन लगी हो और उस धुन में वे अपने कथन को भी भूल गये हों। परन्तु खेद है कि उनको तो उस समय जो जाति वर्तमान थी उसका भी ज्ञान न था। क्योंकि जैसाकि हम ऊपर प्रमाण दे चुके हैं उससे यह सिद्ध है कि ये ब्राह्मण उस समय वर्तमान थे। यदि ऐसा न होता तो भरत महाराज राजाओं को क्यों आज्ञा देते कि उन ब्राह्मणों पर जो हिंसक शास्त्रों को मानते हैं तथा उनका प्रचार करते हैं, उन पर कर लगाओ। सबसे बड़ी बात तो यह है कि यदि आदिनाथ जी को यह ज्ञान था कि ये ब्राह्मण आगे जाकर पापी हो जावेंगे तो उन्होंने इनकी स्थापना करने की आज्ञा ही भरत को क्यों दी? क्या उनकी ही इच्छा थी कि कलयुग में जैनधर्म का विरोध हो? एक बात और भी है कि उन्होंने ब्राह्मणों के लिये ही यह क्यों कहा कि ये जैनधर्म के विरोधी बन जावेंगे? क्या ब्राह्मणेतर मनुष्य जैनधर्म के विरोधी नहीं बने? यदि और भी लोग विरोधी हैं तो उनका ब्राह्मणों के विषय में ही ऐसा कहना स्पष्ट सिद्ध करता है कि वे भविष्य का कितना ज्ञान रखते थे? वास्तव

में तो तीर्थंकर आदि सब कल्पना मात्र हैं और यह बौद्धों की कल्पना की नक़ल की गई है; क्योंकि जैनी लोग आदि-नाथ जी को हुए असंख्यों वर्ष बतलाते हैं, परन्तु विज्ञान और इतिहास इसका ज़ोरदार शब्दों में प्रतिवाद करता है। तथा उपरोक्त प्रमाण जो हमने आदिपुराण के दिये हैं, उनसे भी स्पष्ट सिद्ध है कि यह वर्णन अनुमान पन्द्रह सौ वर्षों का है। क्योंकि उसी समय भारतवर्ष में जैनधर्म का घोर विरोध था और उसी समय जैन राजाओं ने ब्राह्मणों पर कर लगाया था। तथा जैन शास्त्रों में जो तीर्थंकरों का वर्णन है, वह भी अपने को स्वयं कल्पित सिद्ध करता है। क्योंकि किसी भी प्रमाण से उसकी सिद्धि नहीं हो सकती अर्थात् न तो उसको कोई विद्वान् प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध कर सकता है और न अनुमान से, क्योंकि उस प्रकार के मनुष्यों का प्रत्यक्ष तो अब है ही नहीं। जब प्रत्यक्ष ही नहीं तो अनुमान किस प्रकार किया जावे कि ऐसे मनुष्य हो सकते हैं ? और नाहीं उसमें शब्द प्रमाण है, क्योंकि किसी भी प्रामाणिक इतिहास में इस प्रकार के विचित्र मनुष्यों का वर्णन नहीं मिलता। बस जब ऐसा है तो तीर्थंकरों के होने में ही किस प्रकार विश्वास किया जावे ?

ह० सोहनलाल आर्य, मंत्री आर्यसमाज, पानीपत।

---

[३]

जैनसमाज का पत्र

[तारीख़ १०–११–२३— समय ८ बजे प्रातः]

महाशय जी आपके द्वितीय पत्र के पढ़ने से ज्ञात हुआ कि हमारे तार्किक पत्र को पढ़कर आपकी अक़्ल चक्कर खा गई और कुछ उत्तर न बनने पर अनेक ऊट पटांग बातें लिख मारी हैं। सच है, जले हुए पत्थर मारा ही करते हैं। आप कहते हैं, कि आर्यसमाज के तर्क रूप प्रबल वायु से और "वाहरे आपके तर्क"; यदि गालियों ही का नाम तर्क है तब तो आपकी समाज अवश्य तार्किक है और उसकी तर्क रूप वायु यानि गालियों की बौछाड़ के सामने कोई भला मनुष्य नहीं ठहर सकता। हमारे यहां अच्छे विद्वान नहीं आये, ठीक है; यदि साधारण जन ही बुड्ढों की अक़्ल गन्दी कर सकते हैं तो बड़ों को कष्ट देने की आवश्यकता भी क्या है? जैनसमाज ने शास्त्रार्थ में दान्त दिखाए, ठीक है; किन्तु आर्यसमाज तो पीठ दिखाकर शास्त्रार्थ के मैदान से भागना चाहता है। "देवानां प्रिय" "ददतु ददतु गालीं गालिवन्तो भवन्तः" आदि शब्द लिखकर आपने

अपनी सभ्यता को कलङ्कित नहीं किया है, ठीक है; आपकी सभ्यता ही ऐसी है जो दूसरों को खुले अपशब्द लिखकर भी कलङ्कित नहीं हो सकती; दूसरों को अच्छे शब्द लिखना ही आपकी सभ्यता को कलङ्कित कर सकता है। बलिहारी है आप की सभ्यता की और इसमें आपका दोष भी क्या, क्योंकि आप के तो वेदों में भी सिवाय ऐसे शब्दों के और रक्खा ही क्या है? तार्किक शिरोमणी जी आप हमारे अनुमानों के दूषण न बतला कर उलटे हमसे प्रतिज्ञा और हेतु पूछते हैं और कहते हैं दृष्टांत नहीं लिखा, सो आपको मालूम होना चाहिये कि शास्त्रार्थ में वादी से प्रतिज्ञा और हेतु पूछना अपनी अज्ञानता बतलाना है, यदि मौखिक शास्त्रार्थ में ऐसे लड़कपन की बातें पूछी जातीं तो जनता आपके पीछे तालियें पीट देती। दूसरे शास्त्रार्थ में वाक्य प्रयोग काल में प्रतिज्ञा और हेतु दो ही अवयवों का प्रयोग आवश्यक और तर्क सम्मत है। दृष्टान्त, उपनय और निगमन का प्रयोग अप्रतिपन्न प्रतिपत्ताओं के लिये किया जाता है, क्यों कि दर्शनकारों का मत है कि "नहि शास्त्रार्थ काले शिष्या व्युत्पाद्या व्युत्पन्ना नामेव तत्राधिकारात्" अर्थात् शास्त्रार्थ में शिष्य नहीं पढ़ाये जाते, उसमें व्युत्पन्नों का ही अधिकार है। क्या आप बतला सकते हैं कि वाद काल में दृष्टान्त का उल्लेख अविनाभाव निश्चय के लिये है या साध्य की प्रतिपत्ति का अङ्ग है? दोनों ही बातें हेतु से हो जाती हैं; उनके लिये दृष्टान्त की क्या आवश्यकता? यदि व्याप्ति के लिये दृष्टान्त का उल्लेख

किया जायगा तो दृष्टान्त में भी तो व्याप्ति है; दूसरे और दृष्टान्त चाहियें। इस प्रकार अगाड़ी बढ़ने से अनवस्था दूषण आता है, अतः दृष्टान्त का उल्लेख वाद काल में अनिवार्य नहीं। आप लिखते हैं कि साध्य को अबाधित नहीं होना चाहिये; मालूम होता है आपने हमारे आशय को न समझकर हमारा वाक्य इस ढङ्ग से उद्धृत कर दिया है। हमारा वाक्य प्रश्न रूप में था जिसका आशय था कि क्या साध्य को अबाधित नहीं होना चाहिये ? इसकी सिद्धि के लिये हमने अग्नि की शीतलता को साध्य बनाने का दृष्टान्त भी दिया था, किन्तु जब इधर उधर से नक़ल किये हुए पुराने काग़ज़ों से ही काम चल सकता है तो उसे पढ़ने का कष्ट कौन उठाता है। हमने सत्प्रतिपक्ष की सिद्धि में जो युक्तियां उपस्थित की थीं, उसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया, केवल हमारी भूल बतला कर चुप्पी साधली है। यदि आर्यसमाज अपने को तार्किक भूचाल मानता है तो उसे इसका खण्डन करना चाहिये था, किन्तु तार्किक शैली के सामने तो उसका मुख बन्द हो जाता है। अपने मुंह से मिया मिट्ठू बनने में ही उसकी पटुता है। आर्यसमाज लिखता है कि हमने समस्त हेतुओं को देवदत्तादि समस्त सर्वसाधारण में घटाया था, सो महाशय जी! आपने अपने मन में ही घटाया होगा। आपके पत्र में तो इस विषय का एक वाक्य लिखा हुआ है, जिसका उत्तर भी हम दे चुके हैं। आपने उसका कोई परिहार नहीं किया। आपने हमसे भूत भविष्यतके पदार्थों की सिद्धि करने के

विषय में कई व्यङ्गरूप प्रश्न किये हैं। महाशय जी, क्या भूत और भविष्यत पदार्थों का भी सिद्ध करना आवश्यक है ? भूत, भविष्यत, और वर्तमान तीनों परस्पर सापेक्ष हैं। जो वर्तमान को स्वीकार करता है उसे भूत और भविष्यत अवश्य मानने पड़ेंगे। क्या आपका ईश्वर केवल वर्तमान का ही ज्ञाता है, अतः वर्तमान पदार्थों के अस्तित्व में कोई विवाद न होने से उनका अस्तित्व ही भूत और भविष्यत पदार्थों के अस्तित्व का नियामक है। इसलिये हमारे हेतु कभी भी आश्रयासिद्ध नहीं हो सकते। आपने अपने प्रथम पत्र में लिखा था कि यह हेतु अनैकान्तिक है, क्योंकि देवदत्तादि सब में रहता है। हमने इसका उत्तर अपने दूसरे पत्र में दे दिया था, किन्तु इस बार आपने उसे असाधारणानैकान्तिक बतलाया है। अस्तु, जो हेतु सपक्ष और विपक्ष में न रहकर केवल पक्ष में ही रहता है उसे असाधारणानैकान्तिक तर्कसंग्रह के कर्ता ने माना है। हमारा अनुमेयत्व हेतु अग्नि दृष्टान्तमें रहताहै, क्योंकि अग्नि अनुमेय भी है और प्रत्यक्ष का विषय भी, अतः वह सपक्ष वृत्ति ही है, सपक्ष से व्यावृत नहीं है। ऐसी दशा में न मालूम आपने किस न्याय-शास्त्र के ज्ञानके आधारपर उसे असाधारणानैकान्तिक बतलाया है। यदि आर्यसमाज अपने को तार्किक शिरोमणि समझता है तो उसे हम "चैलेञ्ज" देते हैं कि वह हमारे अनुमेयत्व हेतु को असाधारणानैकान्तिक सिद्ध करे। कोरी बातें गाने से कुछ नहीं बनता। अस्तु, असाधारणानैकान्तिक कोई हेत्वाभास भी नहीं

है; आर्यसमाज अपने किसी मान्य ग्रन्थ से इस हेत्वाभास के अस्तित्व को सिद्ध करे। न्याय दर्शनकार तथा उसके भाष्य-कर्ता वात्सायन ने अपने हेत्वाभासों में केवल अनैकान्तिक का निर्देश किया है; यथा—अनैकान्तिका सर्व व्यभिचाराः १—२—४६ न्याय दर्शन भाष्य "एकस्मिन्निति विद्यते इति एकान्तिकः विपर्ययादनैकान्तिकः उभयान्त व्यापकत्वादिति"। असाधारणनैकान्तिक हेत्वाभास का निर्देश कुछ इधर उधर के मामूली ग्रन्थकारों ने कर दिया है, जिन्हें स्वामी जी ने प्रमाण नहीं माना है। अतः आर्यसमाज ने हमारे अनुमेयत्व हेतु में आजतक जो दोप दिये वे सब दोषाभास हैं और निर्दोष अनु-मेयत्व हेतु तथा प्रमेयत्व श्रुतज्ञानाधिगम्यत्व शब्द रूप आगम के साक्षात प्रतिपादन का अन्य आश्रयाभाव हेतु, जिन्हें उसने छूआ भी नहीं, जैन तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता को निर्बाध सिद्ध करते हैं। हमने समस्त आत्माओं में एकसी शक्ति सिद्ध करने के लिये रेखागणित का उदाहरण दिया था जो गणित शास्त्र का सर्घमान्य सिद्धान्त है, किन्तु दुख है कि आप उसे भी न समझ सके। कृपया अब आप उसे दोबारा पढ़िये और समझने की कोशिश कीजिये। यदि आपकी समझ फिर भी साथ न दे तो कृपया किसी गणितज्ञ से समझने की कोशिश करें। आप लिखते हैं कि प्रत्येक वस्तु जीव आत्मा के प्रत्यक्ष का विषय है, यह असिद्ध है। महाशय जी, हमारे प्रथम वक्तव्य को एक बार पुनः ध्यान पूर्वक पढ़ने का कष्ट करें। आपको सब शङ्काओं का

उसी से समाधान हो जाएगा। हमारे पत्रों को विना पढ़े व्यर्थ की वातों को दोहराना कम से कम शास्त्रार्थ में शोभास्पद नहीं। अतः अभी तक हमारा यह साधन भी निर्दोष है और जैन तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता सिद्धि का नियामक है। आपने प्रत्यक्ष, अनुमान, उनमान आदि प्रमाणों से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करने की व्यर्थ चेष्टा की। हमारे अनेक प्रमाण जैन तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता को सिद्ध करते हैं, जिन्हें हम पहिले ही लिख चुके हैं। फिर आप कैसे लिखते हैं कि सर्वज्ञता साधक प्रमाण या युक्ति का अभाव है। आप लिखते हैं कि जब प्रत्यक्ष का अभाव है तो अनुमान का अभाव कैसा। क्या जिन वातों में प्रत्यक्ष की गति नहीं होती, वहां अनुमान भी प्रवृत नहीं होता? परमाणु तथा आपके ईश्वर में प्रत्यक्ष की प्रवृति न होने पर भी इनको अनुमान से सिद्ध किया जाता है। परमाणुओं का अस्तित्व तो अनुमान से ही जाना जाता है। आपने अपने पहिले पत्र में सर्वज्ञता का अर्थ व्यवहारज्ञ किया था, फिर हमसे पूछा था कि सर्वज्ञ का क्या अर्थ है? अब आप स्वयं लिख रहे हैं कि सर्वज्ञ का अर्थ तीन लोक एवं तीनों कालों की एवं सर्व प्राणियों की सर्व वातों को एक साथ जानना है। इन परस्पर विरोधी उल्लेखों से क्या आप "वदतो व्याघात" दोष के भागी नहीं वनते? यदि आप इस प्रकार के दूपणों से वचना चाहते हैं तो लिखने से पहिले पूर्वापर का ध्यान रक्खा करें। जहां कभी कुछ और कभी कुछ लिखने से आप परस्पर विरोधी वचनों को कहेंगे, वहीं

आपके वक्तव्य की असारता भी झलक जायगी। इसी तरह यह भी आपका कहना मिथ्या है कि जैन तीर्थङ्करों की सिद्धि का अभाव है। क्या एक देशी और सर्वज्ञता का विरोध है? यदि है तो वह कौनसा है? क्या आपके विद्वान जो आत्माको अणु मात्र ही मानते हैं अपने से दूर की वस्तु नहीं जानते। अल्पज्ञता जब तक रहती है तब तक कोई व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं हो सकता, किन्तु अल्पज्ञता के कारण हट जाने पर सर्वज्ञता का होना अनिवार्य है। अल्पज्ञता व्यक्ति की अनादि होने पर भी प्रागभाव की तरह नाशवान है, अतः इसके नष्ट हो जाने पर जैन तीर्थङ्कर सर्वज्ञ सिद्ध होजाते हैं, यह बात निर्विवाद सिद्ध है। आपने जैन तीर्थ-ङ्करोंको अल्पज्ञ सिद्ध करनेके लिये आदिपुराणके एक दो उल्लेख भी दिये हैं जो अप्रकृत होने के साथ ही साथ भ्रमपूर्ण भी हैं। भगवान् आदिनाथ ने अपनी सर्वज्ञ अवस्था में ब्राह्मण वर्ण के लिये जो उद्गार प्रगट किये थे, क्या वे सत्य नहीं हैं? कलयुग में ब्राह्मण समाज की जैसी दशा रही है वह भगवान आदिनाथ के प्रत्येक शब्द से मिलती जुलती है, अतः इनसे उनकी सर्वज्ञता ही सिद्ध होती है, अल्पज्ञता नहीं। साथ ही साथ आपने भग-वान आदिनाथ जी पर रागी द्वेषी होने का भी मिथ्या लांच्छन लगाने की कुचेष्टा की है। महाशय जी क्या सत्यवाद का कहना द्वेपता का परिचायक है? यदि कोई महाशय किसी के सत्य दोषों का उद्भावन करे तो यह क्या उसका द्वेष समझा जायगा। सर्वज्ञ होकर भी अन्यथा बात कहना सर्वज्ञता के लिये दूषण हो

सकता है, सत्य वाद तो नहीं। कलयुगी ब्राह्मणों के अनेक कार्य भगवान् आदिनाथ के अनुकूल हैं; क्या उन्होंने संसार में हिंसा और कुमार्ग की प्रवृत्ति फैलाने के लिये वेदों के नाम से अनेक ग्रन्थों का निर्माण नहीं किया है। आपके मान्य ग्रन्थ भी इस बात का समर्थन करते हैं। यथा—श्रेष्टोः वेदस् तमसो अधिजातो भ्रमज्ञानं छिनये सम्बभूव (गोपथ ब्रा० १—९) अर्थात् वेद श्रेष्ठ हैं, क्योंकि यह तप के द्वारा भ्रम ज्ञानियों को क्षति करने के लिये पैदा हुए हैं। अय मे हिंसाम् आश्रित्य विधाम् सृज्य महा तपस्तेपिरे चिरेण वेदोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति ते धूमन्ती सम्भवन्ति (निरुक्त १४—८) अर्थात् निरुक्तकार दक्षिणायन मार्ग का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि जो मनुष्य हिंसा का आश्रय लेकर महा तप को तपते हैं और बहुत काल तक वेदोक्त कर्मकाण्ड अनुष्टान करते हैं वह धूममार्ग से चन्द्रलोक में पैदा होते हैं और वहां से च्युत होकर इस लोक में पैदा होते हैं (देखो शतपथ ब्रा० ४—५—७—१३) (एतरेय ब्रा० ५—३२) (गोपथ ब्रा० २—९)। इनसे भी सिद्ध है कि वेद ग्रन्थ यज्ञ सम्बन्धी क्रियाकाण्ड की सिद्धि के लिए ब्राह्मणों ने रचे थे। आगे चलकर आपने लिखा है कि आदिपुराण का वर्णन १५०० वर्ष पहिले की दशा का चित्र है। जैन तीर्थङ्कर केवल कल्पित व्यक्ति थे और इनके मानने में बौद्धों का अनुकरण किया गया है, आदि। महाशय जी अपने कपोल कल्पित सिद्धान्तों की तरह आपने किन ऐतिहासिक ग्रन्थों के आधार पर यह बातें

लेख डाली हैं। पुराने ज़माने की यह भ्रमपूर्ण धारणा कि जैन धर्म बौद्धधर्म की शाखा है, वहुत समय पूर्व निर्मूल सिद्ध हो चुकी है। भारतवर्ष में जब बौद्ध धर्म का नामो निशान भी न था तब जैनधर्म के मानने वाले करोड़ों की संख्या में मौजूद थे। इस मत की पुष्टी डा० हर्मन जैकोबी के जैनमत सम्बन्धी लेख से, जो इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में प्रकाशित हो चुका है, पूरे तौर पर होती है। इसके अतिरिक्त मोहनजी दारु में पुरातत्व-विभाग की ओर से जो खुदाई हुई है उससे पुराने समय के जो सिक्के और मूर्तियें निकली हैं उनसे यह बात भली भाँति प्रगट है कि जैन मत आज से छः हज़ार वर्ष पहिले सिंध प्रदेश में फैला हुआ था (देखो Modern Review August 1932 Page 151 to 160)। तीसरे, स्वयं बौद्ध ग्रन्थों में भगवान ऋषभ तथा महावीर का उल्लेख पाया जाता है; यथा—सर्वज्ञ आप्तो वा, सज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान् यथा ऋषभवर्द्धमाना-द्रिति (न्यायबिन्दु अध्याय ३) अर्थात् सर्वज्ञ आप्त ने ही ज्यो-तिष ज्ञानादि का उपदेश दिया था, जैसेकि ऋषभ और वर्द्धमान आदि ने। बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति के इस उल्लेख से ऋषभ और महावीर की सर्वज्ञता तथा अस्तित्व दोनों प्रमाणित हैं। और भी देखिये—बौद्ध ग्रन्थों में ऋषभ देव के वर्णन "उसभं पवरं वीरं महेपं विजताभिनं अनेजं नांदातकं, बुद्धं तमहं ब्रुमि ब्राह्मणं" (धम्मपद ४२२)। इस सब विवेचन से स्पष्ट है कि जैन तीर्थङ्करों का अस्तित्व न कल्पित ही है और न बौद्ध धर्म का अनुकरण

मात्र ही है। साथ ही साथ यह भी प्रमाणित है कि भगवान ऋषभदेव की वाणी बिल्कुल ठीक हुई थी। आर्यसमाज के अन्य आक्षेपों का निराकरण और अपने पक्ष का समर्थन भी किया जा चुका है, इससे सिद्ध है कि जैन तीर्थंकर सर्वज्ञ हैं।

ह० मुनिसुव्रतदास जैन,
प्रतिनिधि जैन समाज, पानीपत।

आर्यसमाज का उत्तरपत्र

[तारीख़ १०-११-३३—समय १२ बजे दोपहर]

घटानां निर्मातुः त्रिभुवन विधातुश्च कलहः। जैन समाज को वैदिक प्रलय के सम्बन्ध में जिस प्रकार भ्रान्ति थी उसी प्रकार वैदिक ईश्वर के विषय में भी भ्रम है। उसका कारण अल्पज्ञों को सर्वज्ञ समझने का संस्कार है। हम जैन समाज को स्पष्ट बतला देना चाहते हैं कि वैदिक ईश्वर सर्वव्यापक एवं नित्य सर्वज्ञ है। आपके मान्य तीर्थंकरों की तरह एक देशी अथवा कृत्रिम सर्वज्ञ नहीं है। अतः ईश्वर के लिये तीनों काल और तीनों लोकों का प्रश्न ही नहीं उठ सकता, क्योंकि काल का लक्षण "नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति। वै० द० २—२—९" किया है। इसी तरह ऊपर नीचे भी सापेक्ष पदार्थ हैं, जिनका व्यवहार एक देशीय की

अपेक्षा से किया जाता है। इस साधारण सी बात को न समझकर उलटा आर्यसमाज का "सिद्धान्त हानि निग्रहस्थान" लिख दिया, जिससे वह स्वयं "निरनुयोज्यानुयोग" निग्रह स्थान का पात्र तो बना ही और अपने अज्ञान् का परिचय देकर "अज्ञान निग्रह स्थान" का भी पात्र बन गया। ध्यान रहे कि यह "शास्त्रार्थ" आपके तीर्थङ्करों की कल्पित सर्वज्ञता पर है न कि ईश्वर की वास्तविक सर्वज्ञता पर; इसलिये जो सर्वज्ञ के अर्थ किये गये हैं वे मानव व्यावहारिक "सर्वज्ञ" शब्द के किये गये हैं क्योंकि यह त्रिकालज्ञ और त्रिलोकज्ञ आदि शब्दों का व्यवहार अल्पज्ञ जीवों की अपेक्षा से होता है। आर्यसमाज की जड़ पर कुठाराघात की आप चिन्ता न करें। आप जैन समाज की परिस्थिति पर विचार करें। क्योंकि पञ्चम काल वर्त रहा है, जिसमें अधिक से अधिक तीन चार जैनी रह सकते हैं। उन तीन चारों को भी आर्यसमाज के तर्क से तत्त्वः ज्ञान हो ही जायेगा। आपने लिखा है कि तीर्थङ्करों के आवरणों का सर्वथा अभाव हो जाता है, परन्तु इसमें प्रमाण कुछ नहीं दिया। आपको स्मरण रखना चाहिए कि आप मन्दिर जी में बैठकर कथा नहीं कह रहे हैं, शास्त्रार्थ कर रहे हैं, शास्त्रार्थ में बिना प्रमाण दिये प्रतिज्ञा मात्र करना विद्वत् समाज में हंसी का पात्र बनना है। "आवरण का अभाव होना" ही यह सिद्ध करता है कि उनमें आवरण था। यह आवरण आप अनादि काल से मानते हैं, अनादि वस्तु का अभाव कैसे सम्भव है?

क्योंकि ऐसा मानने से तो आत्मा आदि नित्य पदार्थों का नाश ही अवश्यंभावी होगा। इसका उत्तर न देकर आपने प्रागभाव का दृष्टान्त दे दिया। क्या आप आवरण को भी अभाव मानते हैं? दूसरी बात यह है कि इसमें जैन विद्वानों ने एक बड़ी भारी भूल यह की है कि अनादि के विनाश होने में हेतु कुछ नहीं दिया। हेतु के विना केवल दृष्टान्त मात्र से ही किसी वस्तु की सिद्धि नहीं हुआ करती। इसलिये इस दृष्टान्ताभास का नाम न्यायशास्त्र में "प्रति दृष्टान्त सम" नामक जाति उत्तर कहा है। आगे आपने प्रत्येक आत्मा को स्वभाव से सर्वज्ञ माना है। पुनः स्वाभाविक गुण में आवरण आही नहीं सकता। इस आवरण के आने में भी आपने कोई हेतु नहीं दिया, केवल एक चन्द्रकान्त मणि का दृष्टान्त मात्र दिया है। उस दृष्टान्ताभास से भी गुण और गुणी के बीच में आवरण आना आप सिद्ध न कर सके। क्योंकि वहाँ तो दो द्रव्य—अग्नि और उसकी उष्णता—को अनुभव करने वाले आप हैं। इन दो के बीच में तीसरे चन्द्रकान्त मणि द्रव्य का आवरण है; न कि गुण गुणी में। बस, आपका जीवात्मा को स्वाभाविक सर्वज्ञ बतलाना और उसमें अनादि काल से आवरण मानना दोनों परस्पर विरुद्ध बातें हैं। आप लिखते हैं, जैन तीर्थंकरों की सर्वज्ञता में बाधक कोई प्रमाण नहीं है, यह बिलकुल निराधार है। क्यों कि प्रथम तो प्रत्यक्ष ही इसका बाधक है, जिसको आप स्वीकार कर चुके हैं। यदि आप यह कहें कि प्रत्यक्षदर्शी यह

नहीं कह सकता कि कालत्रय और लोकत्रय में सर्वज्ञ का अभाव है तो श्रीमान् जो आप भी यह कह सकते हैं कि नहीं कि कालत्रय और लोकत्रय में वन्ध्यापुत्र का अभाव है? यदि आप कह सकते हैं तो तीर्थङ्करों को सर्वज्ञता का अभाव कथन करने में प्रत्यक्षवादी के लिये क्या बाधा ?

दूसरा बाधक अनुमान प्रमाण है, क्योंकि जब प्रत्यक्ष में कोई भी शरीरधारी प्रत्यक्ष नहीं है तो उसका अनुमान हो ही कैसे सकता है ? तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता में एक हेतु यह दिया था कि शब्दात्मक आगम के साक्षात् प्रतिपादन का दूसरा आश्रय न होने से जैन तीर्थङ्कर सर्वज्ञ हैं। इसी प्रकार यज्ञदत्त देवदत्त आदि भी कहते हैं कि हम सर्वज्ञ हैं, क्योंकि शब्दात्मक आगम का हमारे सिवाय दूसरा आश्रय नहीं है। दृष्टान्त के लिये इतर मतावलम्बी वर्तमान हैं। आपका कथन सत्य और उनका मिथ्या इसमें क्या प्रमाण है ?

इसीलिये प्रार्थना की गई थी कि आप पहिले हेतु को समझ लें कि हेतु किसे कहते हैं फिर उन्हें हेतु रूप में उपस्थित करें। ऐसे ही हेतु के नाम से पञ्चमी विभक्ति लगाने से काम नहीं चल सकता। श्रीमान् जी आपके ये हेतु ऐसे ही हैं जैसे कोई कहे कि यह घोड़ा गाय है सींग होने से, इत्यादि।

आगे आपने फ़रमाया है कि "सम्पूर्ण आवरणों का अभाव जैन तीर्थङ्करों में ही था उनके निर्दोष होने से; वे निर्दोष थे, उन के मोक्ष और उनके कारण तथा संसार और उसके कारणों के

आदेश के अखण्डित होने से"। इनका निर्दोष होना किन प्रमाणों से सिद्ध होता है और उनके उपदेश अखण्डित हैं यह कैसे प्रमाणित है? आपको उचित तो यह था कि हेतु देते, परन्तु प्रतिज्ञायें करते जाते हैं। परन्तु प्रश्न तो यह है कि इन प्रतिज्ञाओं के तथ्य पर हेतु क्या है? आगे आप लिखते हैं कि परिमाण में तारतम्य है, फिर वह भी प्रकर्ष को प्राप्त होकर अनन्त होता है। उदाहरण आकाश का दे दिया, परन्तु आकाश में परिमाण व तारतम्य सिद्ध करने की कृपा न की। हमने पूछा था कि एक सर्वज्ञ दूसरे सर्वज्ञ के ज्ञान को जानता है या नहीं, मालूम नहीं कि इस प्रश्न में क्या बिजली का असर था कि जिससे जैनसमाज एक दम सन्निपात की दशा में आकर कुछ का कुछ लिखने लगा। उदाहरणार्थ "नक़लची" आदि शब्द हैं। इसी समय "जैनजगत" भी याद आ गया है। सो श्रीमान् जी अभी से क्यों घबराते हैं, "जैनजगत" तो अभी बहुत से गुल खिला-येगा। जैनजगत रूपी विद्युत प्रकाश के आगे इस जैनदर्शनरूपी दीपक की क्या बिसात? यह हम आपको बतला देना चाहते हैं कि जैनजगत में जो सर्वज्ञत्व के निरसन में युक्तियाँ निकल रही हैं वे हमारे मीमांसकों से ली गई हैं। आगे आपने लिखा है कि "इससे जैन तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता का बाल भी बांका न होगा"। धन्य है यह सर्वज्ञता जिसके बाल भी हैं; ये बाल सर्वज्ञता के शरीर के ऊपर हैं या अन्दर। यदि ऊपर

हैं तो सर्वज्ञता हद वाली सिद्ध हो गई; जिसे हम सिद्ध करना चाहते थे उसी को सन्निपात ने आपसे कहलवा दिया और अन्दर हैं तो ज़रूर खटकते होंगे। यह सर्वज्ञता तो दुःखद ही ठहरी। "गये थे नमाज़ बख़शवाने—रोज़े गले पड़े" वाली मसल हुई। एक दृष्टान्ताभास दर्पण का दिया है। मालूम नहीं अनन्तानन्त लोकों के तथा त्रिकाल के सम्पूर्ण पदार्थ एक समय में एक ही साथ दिखाने वाले दर्पण का आविष्कार कब हुआ? दूसरे जो वस्तु है ही नहीं उसका आभास दर्पण में कैसे होगा? आपने प्रश्न किये हैं कि सर्वज्ञत्व और शरीरत्व का विरोध क्या वस्तु है? द्रव्य है? गुण है? अथवा कोई अन्य पदार्थ है? सो महाशय किसी पाठशाला में जाकर किसी गुरु से पूछें। यह तो शास्त्रार्थ क्षेत्र है, हम तो यह कहते हैं कि "यत्र यत्र शरीरत्वं तत्र तत्र अल्पज्ञत्वम् युष्मदादिवत्"; इसका आप खण्डन न कर सके, न कर सकेंगे। आगे आपने हमारे शास्त्रों के प्रमाणों से यह सिद्ध करने का असफल प्रयत्न किया है कि "सशरीरी भी सर्वज्ञ होता है"। सो श्रीमान् जी उन स्थलों पर सर्वज्ञ के यही सामान्य व्यावहारिक अर्थ हैं जो हम पूर्व ही आपको लिख चुके हैं। हम अब आपके सामने हेतु का स्वरूप रख कर नम्र प्रार्थना करते हैं कि आप अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिये हेतु दें। "उदाहरण साधर्म्यात् साध्य साधनं हेतु" अर्थात् उदाहरण के साधर्म्य से साध्य को सिद्ध करने का नाम 'हेतु' है अथवा "वैधर्म्यात्"

उदाहरण वैधर्म्य से साध्य साधन 'हेतु' है। आपके दिये हुये हेतु रूपी वचनों में उदाहरणों का तो अत्यन्ताभाव है। पुनः वे किसके साधर्म्य और वैधर्म्य से साध्य को सिद्ध करते हैं जिससे इनको हेतु कहा जाय? अतः आप इनको हेतु सिद्ध करें। आदिपुराण के प्रमाण से मैं ने तीन बातें सिद्ध की थीं—(१) भगवान् आदिनाथ का ब्राह्मणों की उत्पत्ति की घोषणा करना (२) उसी समय उन ब्राह्मणों का अस्तित्व होना और (३) ब्राह्मणेतरों का भी जैनधर्म का विरोधी होना। इन तीनों बातों से भूत भविष्यत वर्तमानकाल के ज्ञान का अभाव सिद्ध होता है। आपने जो ऋषभदेवादि तीर्थङ्करों के सर्वज्ञ होने में बौद्ध ग्रन्थों का प्रमाण दिया है सो जिनको आप जैन तीर्थङ्कर कहते हैं उनको बौद्ध लोग बुद्ध कहते हैं। इसीलिये आपने बौद्धों की नक़ल की है। आपने अपने को प्राचीन सिद्ध करने के लिये जो प्रमाणाभास दिये हैं वे बिलकुल सत्य के विपरीत हैं। जैनसमाज के मान्य विद्वानों ने आपके दिये इन प्रमाणों की अच्छी तरह पोल खोल दी है, जिसके लिये श्री दरबारीलालजी, श्री नाथूराम जी प्रेमी आदि विद्वानों के लेख पढ़ें। आपने एक प्रमाण मॉडर्न रिव्यू का दे दिया। हमारे सामने अप्रैल १९३२ का मॉडर्न रिव्यू उपस्थित है, जिस के पृष्ठ ३६७-३७१ पर सर जान मार्शल की मोहेन जो दारो के सम्बन्ध में लिखी हुई पुस्तक की आलोचना की गई है। इसमें स्पष्ट लिखा है कि जान मार्शल के मत से मोहेन जो दारो से

निकली हुई मूर्तियाँ और सिक्के जैनधर्म के हैं। किसी ग़ैर-ज़िम्मेदार आदमी ने बैल के चिन्हमात्र से इनको ऋषभदेव की मूर्ति या सिक्के बतलाये हों तो वे किस परीक्षक को मान्य हो सकते हैं? ऐसा निरर्थक प्रयत्न करने से क्या लाभ? सर्वज्ञता में कोई एक तो हेतु दें।

असत् का प्रत्यक्ष

(५) आपकी इस कल्पित सर्वज्ञता में एक भयानक दोष यह है कि इसमें असत का भी प्रत्यक्ष मानना पड़ता है। भला कोई बुद्धिमान् विचार तो करे कि जब कोई वस्तु है ही नहीं तो उसका प्रत्यक्ष किस प्रकार हो गया। यदि कहो कि असत् का प्रत्यक्ष नहीं होता तब तो सर्वज्ञों को भविष्य की बातें न ज्ञात होंगी और यदि भविष्य की सम्पूर्ण बातों का भी उनको प्रत्यक्ष होता है तो यह मिथ्या प्रत्यक्ष है, क्योंकि वस्तु के बिना ही वस्तु का आभास हो रहा है। एक आपत्ति और भी आती है जिससे जैनधर्म रसातल को ही चला जाता है। वह यह है कि यदि यह मानलें कि आपके तीर्थंकर तीनों कालों की सम्पूर्ण बातों को जानते हैं तो मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र नहीं रह सकता क्योंकि सर्वज्ञ यह जानते हैं कि अमुक जीव अमुक समय में अमुक कर्म करेगा। अब यदि वह नहीं करता है तब तो आपके कल्पित सर्वज्ञ जी का ज्ञान मिथ्या हो गया और यदि वह उसी पापकर्म को करता है तो उसने तो आपके सर्वज्ञ के सर्वज्ञत्व की रक्षार्थ ऐसा पाप किया है; उसको

उसका फल क्यों मिलना चाहिये ? अथवा सर्वज्ञ यह जानते हैं कि अमुक जीव अमुक समय में मुक्त हो जावेगा तो उसको मुक्ति के लिये कोई प्रयत्न नहीं करना होगा, क्योंकि सर्वज्ञ के ज्ञान से उसकी मुक्ति तो अवश्य हो ही जावेगी। इस अवस्था में धर्म कर्म को नष्ट करने वाला यह सर्वज्ञवाद होगा। इसी प्रकार जहां भविष्य के ज्ञान के लिये है वहाँ भूत का भी प्रत्यक्ष होना असत् वस्तु का प्रत्यक्ष होना है।

(६) आपका एक देशीय सर्वज्ञ अनन्त पदार्थों का और उनकी अनन्त पर्य्यायों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि यदि वह अनन्त के अन्त को जानले तब तो पदार्थों की अनन्तता नष्ट हो गई। और यदि उनके अन्त को न जाने तो आपकी परिभाषा के अनुकूल वह सर्वज्ञ न रहा; तथा च एक स्थान में बैठे हुए आपके सर्वज्ञ भगवान जिधर की वस्तुओं को जानना चाहेंगे उधर को ही जान सकेंगे। सम्पूर्ण पदार्थों को एक साथ कैसे जान सकते हैं। बस उभयतः पाशरज्जु न्याय से आपकी अवस्था विचारणीय है। वस्तुतस्तु इस विषय पर जितना विचार करो उतना ही यह निस्सार एवं युक्तिशून्य ठहरता है। हां आपकी श्रद्धा की बात निराली है। आप चाहे कुछ भी मानते रहें, परन्तु एक परीक्षक के लिये तो यह विचारणीय है। क्योंकि यदि वस्तु को अनन्त मानें तब तो कोई आपकी परिभाषा वाला सर्वज्ञ सिद्ध नहीं हो सकता और यदि आप के कल्पित सर्वज्ञ-

वाद पर ईमान ले आवें तो वस्तु अनन्त नहीं रहतीं। इस अवस्था में आपके सिद्धान्तानुसार वस्तु का नाश सिद्ध हो जावेगा जो कि जैनधर्म की जड़ को ही काट देगा, क्योंकि जैनसिद्धान्त तो वस्तुओं की नित्यता पर ही ठहरा हुआ है।

(७) इस युक्ति शून्य सिद्धान्त की कल्पना से भी यह सिद्ध होता है कि आपके तीर्थंकर सर्वज्ञ तो क्या अपितु अल्पज्ञों में बहुत ही साधारण अल्पज्ञ थे। यदि ऐसा न होता तो ऐसे तर्क शून्य एवं निराधार सिद्धान्तों की रचना ही क्यों करते और यदि ऐसे युक्तिविरुद्ध कहने वालों को आपके यहाँ सर्वज्ञ कहते हैं तब तो ना भेद ही है।

भविष्यवाणी

तीर्थङ्करों की भविष्यवाणी भी एक विचित्र वस्तु है। सम्भव है उस समय इन बातों का कुछ मूल्य हो, परन्तु इस वैज्ञानिक युग में तो इनको सुनकर हंसी आती है। मालूम नहीं इन भविष्य वक्ताओं को छोटे छोटे राजाओं की प्रत्येक साधारण से साधारण बातें बतलाने की क्या चिन्ता थी। इन्होंने जर्मन के प्रलयकारी महा भयानक युद्ध का तथा संसार की अन्य महत्वपूर्ण घटनाओं का तो ज़िक्र तक भी नहीं किया; महात्मा गांधी एवम् सत्याग्रह संग्राम का ज़िक्र भी नहीं किया और न मुसलमानी राज्य में होने वाले अत्याचारों का वर्णन किया। असल बात तो यह है कि ये सब लेख उसी समयके हैं जबकि वे सब घटनायें, जिनका वर्णन इन ग्रन्थों में है हो चुकी थीं।

उस समय लोग सीधे साधे और भोले भाले होते थे। बस ऐसे पुरुषों को यह कह दिया जाता था कि ये जो बात हुई है उसका ज़िक्र तो हमारे शास्त्रों में पूर्व से ही लिखा है और उस समय पुस्तकें छपती न थीं। बस एक आध श्लोक उस घटना सम्बंधी बनाया और लोगों को सुना दिया; बस हो गया कार्य। दूसरी बात यह है कि इस प्रकार की भविष्य की बातें सर्व मतों में प्राप्त होती हैं। पुनः आपकी भविष्यवाणी के वक्ता सर्वज्ञ थे और दूसरों के नहीं थे, इसमें क्या प्रमाण है ? तथा अनेक बातें तो ऐसी भी हैं जिनके विषय में साधारण से साधारण पुरुष भी भविष्यज्ञ बन सकता है। जैसे कि राजनीतिके विद्वान् आज कह सकते हैं कि एक भयानक युद्ध फिर भी होगा। यदि आजकल के वैज्ञानिक विद्वान् भविष्यवाणी करने लगें तो वास्तव में आपके भविष्यज्ञों को भी हैरान होना पड़े। यही अवस्था आपके भूत काल के वर्णन की है। भला साधारण स्त्रियों के अनेक भवों (जन्मों) का वर्णन करने की क्या आवश्यकता थी ? सबसे बड़ी बात तो यह है कि इन भूत भविष्य के कथनों में रात दिन का अन्तर है। एक शास्त्र कुछ कहता है तो दूसरा शास्त्र कुछ और ही वर्णन कर रहा है। जिस प्रकार एक जज दो विरोधी गवाहों की गवाही से यह जान लेता है कि मामला बनावटी है। इसी प्रकार जैनधर्म के यह गवाह रूपी शास्त्र एक दूसरे का विरोध करके आपके सर्वज्ञत्व के सिद्धान्त को बनावटी सिद्ध कर रहे हैं। जैनियों का ऐसा कौनसा सिद्धान्त है जिसके विषय में आचार्यों का मत भेद न हो। श्रीमान् जी आप इन परस्पर विरोधी गवाहों के बल पर अपना दावा सिद्ध करने चले हैं, यह आपने बड़ी भारी भूल की है। पहिले इन गवाहों को घर में पढ़ा लेवें, पुनः मैदान में आने की कृपा करें।

ह० सोहनलाल आर्य, मंत्री आर्यसमाज, पानीपत।

[४]

जैनसमाज का पत्र

[तारीख १०-११-२३—समय ४ बजे सायंकाल]

साधक प्रमाणों का अस्तित्व और बाधक प्रमाणों के अभाव से वस्तु की सिद्धि होती है, यह एक सर्वतंत्र सिद्धान्त है। इसही के आधार से हमने भी यह दोनों ही बातें जैन-तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता की सिद्धि में उपस्थित की थीं। सर्वज्ञता की सिद्धि में हमने पांच साधन उपस्थित किये थे—एक अनुमेयत्व, दूसरा प्रमेयत्व, तीसरा श्रुतज्ञानाधिगम्यत्व, चौथा सकल पदार्थों के जानने का स्वभाव होकर आवरण रहित होने से, और पांचवाँ शब्द स्वरूप आगम के साक्षात् प्रतिपादन का दूसरा आश्रय न होने से। इनमें से अनुमेयत्व के सम्बन्ध में आर्य-समाज ने सत्प्रतिपक्ष, अनैकान्तिक और आश्रयासिद्ध दोष दिखलाये थे। इस पर जैन समाज के वक्तव्य ने आर्यसमाज के दार्शनिक ज्ञान की पोल खोल दी है और बतला दिया है कि आर्यसमाज सत्प्रतिपक्ष और असाधारणानैकान्तिक को भी नहीं समझता। आर्यसमाज ने अब इनके सम्बन्ध में मौन

धारण कर लिया है; अस्तु। अच्छा ही है यदि सवेरे का भूला शाम को भी घर आ जावे। इससे प्रगट है कि हमारा अनुमेयत्व साधन निर्दोष है। प्रमेयत्व के सम्बन्धमें आर्यसमाजने कोई भी आपत्ती उपस्थित नहीं की; अतः यह भी अपने साध्य को सिद्ध करता है। श्रुतज्ञानाधिगम्यत्व में जो आपत्ति दी थी, उसका निराकरण तुरन्त ही कर दिया था, पुनः उसके सम्बन्ध में आर्यसमाज की ओर से और कोई बात नहीं उठाई गई, इससे प्रमाणित है कि आर्यसमाज को उस विषय में भी कोई विवाद नहीं है। हमारे चौथे साधन के सम्बन्ध में आर्यसमाज ने यह प्रश्न किया था कि जैन समाज यह सिद्ध करे कि इस प्रकार के आवरणों का जैन तीर्थङ्करों में अभाव है; इसका हमने निर्दोषत्व हेतु से साधन किया था और निर्दोषत्व की सिद्धि के लिये मोक्ष एवं उसके कारण और संसार तथा उसके कारण के सम्बन्ध में उनके उपदेश का अबाधित होना बतलाया था। इस पर आर्यसमाज ने एक जगह तो यह कहा कि इसमें कोई प्रमाण नहीं दिया और दूसरी जगह यह स्वीकार किया कि इसके समर्थन में निर्दोषत्व आदि साधन दिये हैं। क्या आर्यसमाज की समझदारी का यही नमूना है? वास्तव में बात यह है कि आर्यसमाज से जब चार घंटों में उत्तर नहीं बनता, तब वह अगले चार घंटों में उसपर यद्वा तद्वा लिखता है। वक्तव्य में परस्पर विरोधात्मक वाक्योंके होने का यही कारण है। यदि अब आर्यसमाज समझता है कि हमारे निर्दोषत्व आदि साधन जैन

तीर्थङ्करों में आवरण के अभाव को प्रमाणित नहीं करते तो वह उनमें दोष उपस्थित करे, व्यर्थ की बातों में क्या रक्खा है ? "शब्द रूप आगम के साक्षात् प्रतिपादन का दूसरा आश्रय न होने से" हमारे इस हेतु में जब आर्यसमाज को कुछ दूषण दिखाई न दिया तब वह कहता है कि ऐसा तो दूसरे धर्मावलम्बी भी कह सकते हैं कि हम सर्वज्ञ हैं, इस ही साधन से। आर्यसमाज में यदि थोड़ा भी दर्शन शास्त्र का परिज्ञान होता तो वह ऐसा कहने का कभी भी साहस न करता। क्या आर्यसमाज दूसरे धर्मावलम्बियों की बात को सच मानता है ? यदि नहीं तो क्या मिथ्या बात से भी साधन में दोष दिया जा सकता है, इससे प्रगट है कि आर्यसमाज के इस कथन से हमारे हेतु का कुछ भी नहीं बिगड़ता; अतः वह प्रकृत सर्वज्ञता को सिद्ध करता है। हमारे इस वक्तव्य से प्रगट है कि हमारे पाँचों हेतु निर्दोष हैं, अतः वे जैन तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता को डङ्के की चोट प्रमाणित करते हैं। बाधक प्रमाणों के अभाव के सम्बन्ध में भी हम यथेष्ट प्रकाश डाल चुके हैं। आर्यसमाज ने अबके एक अद्भुत बाधक उपस्थित किया है और वह प्रत्यक्ष विरोध है। आर्यसमाज कहता है कि यदि प्रत्यक्ष के द्वारा त्रिकाल, त्रिलोक में सर्वसत्ता का अभाव नहीं किया जा सकता तो वन्ध्या के पुत्र का अभाव भी प्रत्यक्ष से त्रिकाल, त्रिलोक में कैसे हो सकेगा। वन्ध्या के पुत्र का त्रिलोक और त्रिकाल में अभाव प्रत्यक्ष से है या अनुमान से, इसको ज़रा

समझियेगा; फिर उसके आधार से दोष देने का प्रयत्न करें। क्या आर्यसमाज बताने की कृपा करेगा कि त्रिकाल त्रिलोक में सर्वज्ञ का अभाव करने वाला प्रत्यक्ष उनको जानकर ऐसा करता है या बिना जाने; यदि जानकर तो क्या आर्यसमाज की मान्यता के अनुसार प्रत्यक्ष से त्रिकाल और त्रिलोक का ज्ञान सम्भवहै ? यदि बिना जाने तो क्या बिना जाने भी प्रत्यक्ष विरोधी हो सकता है ? अतः प्रगट है कि प्रत्यक्ष सर्वज्ञ का बाधक नहीं। शरीरधारित्व रूप आर्यसमाज के साधन की मरम्मत हम पहिले ही कर चुके हैं। हमने बतलाया था कि शरीरधारित्व और सर्वज्ञता का कोई विरोध नहीं; अतः शरीर-धारित्व से सर्वज्ञता का निराकरण नहीं हो सकता। आर्य-समाज के अनेक मान्य शास्त्रों के प्रमाण भी लिख चुके हैं कि जहाँ शरीर की मौजूदगी में भी सर्वज्ञता का समर्थन किया है। साथ ही साथ यह भी कह चुके हैं कि यदि सर्वज्ञता और शरीरधारित्व का विरोध है तो क्यों, और वह कौनसा विरोध है, आदि २। इस पर आर्यसमाज कहता है कि पाठशाला में पढ़ो। आर्यसमाज को मालूम होना चाहिये कि यह बात सीखने के लिये नहीं पूछी गई थी। क्या जैनसमाज नहीं जानता था कि असाधारणानैकान्तिक को न समझने वाला समाज विरोध के जटिल प्रश्न को कैसे बता सकेगा, किन्तु यह तो आपका भोलापन दूर करने के लिये पूछा गया था। हम अब भी आर्यसमाज को निमन्त्रित करते हैं कि यदि वह शरीरत्व के

साथ सर्वज्ञता का विरोध समझता है तो उसको सिद्ध करै और बतलावे कि यह विरोध द्रव्य है, गुण है या अन्य पदार्थ है, अन्यथा अपनी इस मिथ्या धारणा को छोड़ दे। आर्यसमाज की अन्य बातों का (एक सर्वज्ञता का ज्ञान दूसरे को कैसे जान सकता है, आदि) बड़ी विषदता के साथ समाधान कर चुके हैं। आर्यसमाज को हमारा समाधान फिर पढ़ना चाहिये। इस बार आर्यसमाज ने एक नवीन बात और लिखी है और वह यह है कि "जैनजगत" को विद्युत प्रकाश बतलाना आदि। इस से स्पष्ट है कि आर्यसमाज जैनजगत को वेद वाक्य समझता है। अतः समाज को उसही जैनजगत के निम्न शब्दों पर ध्यान देना चाहिये :—

"इतना होने पर भी मैं इतना कह सकता हूं कि दुनियाँ के प्रसिद्ध और प्रचलित धर्मों में जैनधर्म सबसे पुराना है। पार्श्वनाथ का समय बुद्ध से क़रीब ढाई सौ वर्ष पहिले है, इसलिये बौद्धधर्म से तो पुराना है ही। ईसा और मोहम्मद की तो बात ही क्या कहना है, यह तो पीछे के हैं, सिर्फ़ हिन्दू धर्म या वैदिक धर्म का विचार करना है। हिन्दू धर्म या वैदिक धर्म वास्तव में कोई धर्म नहीं है × × अगर वैदिक कोई एक धर्म है तो उसका रूप बतलाना चाहिये। वैदिक धर्म का कोई निश्चित रूप ही नहीं मिलता जिससे वह एक धर्म कहा जासके। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त आदि सभी धर्म अपने को वैदिक धर्मी कहते हैं। यह धर्म आपस में उतने ही भिन्न

भिन्न धर्म हैं जितने भिन्न अवैदिक धर्मों से हैं × × योगदर्शन का न्याय वैशेषिक दर्शन से उतना ही भेद है जितना साँख्य दर्शन का है परन्तु इसमें साँख्य दर्शन से बड़ा भारी अन्तर यह है कि यह ईश्वर मानता है × × वास्तव में यह सब वैदिक दर्शन वैदिक युग से बहुत पीछे से हैं। साथ ही आज यह पोथियों की वस्तु रह गए हैं। जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव आदि धर्मों के समान इन्हें पालने वाला कोई समाज ही नहीं है। वैदिक क्रिया काण्ड को अगर वैदिक धर्म कहा जाए तो उसका विनाश तो महावीर स्वामी और बुद्ध के प्रयत्न से हो चुका, जिसका फिर आजतक पुनरुद्धार नहीं हुआ।"

—जैन जगत वर्ष ७ अङ्क ९—१०

अब क्या आर्यसमाज यह बतलाने की कृपा करेगा कि जैनजगत की विचारधारा कैसी है? उसके विद्युत प्रकाश में जैनदर्शन तो दीपक के समान ही मालूम होता है, किन्तु वैदिक धर्मों का तो दीपक ही बुझ जाता है। जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है हमारे लिये तो जैन जगत में और आर्यसमाज में कोई अन्तर नहीं है। जैसे हम जैन जगत के आक्षेपों का समाधान करते हैं वैसे ही आपके आक्षेपों का भी। जैनजगत ठीक है या जैनदर्शन का मन्तव्य, इसको तो विद्वान ही जान सकते हैं, इसका निर्णय हम आपसे क्या करावें। हाँ यदि आपको अब भी जैन जगत की बातों पर नाज़ है तो उन्हें हमारे सामने रखिये, उनकी तुरन्त ही मरम्मत

कर दी जायगी। आर्यसमाज ने एक और ही अजीब बात लिखी है और वह यह है कि जैन जगत में सर्वज्ञता के खण्डन की बातें मीमांसा दर्शनसे लीगई हैं। जैनजगत ने सर्वज्ञता खंडन की बातें मीमांसा दर्शन से ली हैं या नहीं, इससे हमारा कोई मतलब नहीं। हमें तो इतना ही कहना है कि यह आर्यसमाज के लिये अवश्य अपघात की बात है। इससे आर्यसमाजको इस मान्यताका कि "मीमांसक भी सर्वज्ञको मानताहै" खण्डन होता है। ऐसी ही सावधानी आर्यसमाज ने सर्वज्ञ का अर्थ विशेषज्ञ करके की है। आर्यसमाज भी सर्वज्ञता का अर्थ त्रिकालज्ञ और त्रिलोकज्ञ मानता है और जैनसमाज भी। ऐसी अवस्था में आर्यसमाज ने सर्वज्ञ का अर्थ विशेषज्ञ करके आत्मघात का काम किया है। जब आर्यसमाज को उसकी ग़लती सुझाई गई तब वह कहता है कि यह लक्षण व्यवहार की दृष्टि से किया गया था; तो क्या महाशय जी यह ड्रामा किया जा रहा है जो भिन्न २ रूप भरकर खेल दिखलाए जाते हैं। यहाँ तो प्रसिद्ध सर्वज्ञता जैन तीर्थङ्करों में नहीं रहती, यही आपको सिद्ध करना चाहिये था। अतः प्रगट है कि दोनों प्रकार से आर्यसमाज निग्रह स्थान का पात्र है। आर्यसमाज का यह कहना कि परमात्मा के ज्ञान के साथ त्रैकालिक पदार्थों का सम्बन्ध नहीं है, मिथ्या है। देखो ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृष्ठ ५ पर १०-२३-४-१ का भाष्य करते हुए स्वामी दयानन्द जी लिखते हैं—"जो परमेश्वर एक भूतकाल, जो व्यतीत हो गया है, अनेक

चकारों से दूसरा जो वर्तमान है और तीसरा जो होने वाला है, इन तीनों कालों के बीच में जो कुछ होता है उन सब व्यवहारों को वह यथावत् जानता है"। अब बताइये महाशय जी कि आर्यसमाज का कहना सत्य है या उसके गुरु महाराज का? हमारे लिये तो दोनों ही पक्ष में विजय है, अतः इस विषय में हर तरह से आर्यसमाज प्रतिज्ञाहानि निग्रह स्थान का पात्र है। जैन तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता के विषय में तीन दोष दिये गए हैं, एक अविद्यमान पदार्थों का ज्ञान, दूसरा अनन्तता का ज्ञान और तीसरा सर्वज्ञ के द्वारा भविष्य की बातों के जान लेने पर कर्म में जीवात्मा की स्वतन्त्रता का अभाव। ये तीनों दोष वैदिक ईश्वरके पक्षमें भी तदवस्थ हैं। वह भी एक समय तीनों कालों में नहीं रह सकता। आर्यसमाज उसको एक समय में सर्वव्यापक भले ही मान ले, किन्तु यह नहीं मान सकता कि वह एक समय में तीनों कालों में अपना अस्तित्व रखता है। एक समय में तीनों कालों में अपने अस्तित्व को न रखने वाला परमात्मा एक समय में तीनों कालों की बातों को नहीं जान सकेगा। अनन्त पदार्थों के जानने पर या तो ईश्वर के ज्ञान का अन्त होगा या पदार्थों का। इसही प्रकार आपके लिखे अनुसार आपका परमात्मा यदि जीवात्माओं की भविष्य की बात जान लेगा तो वे कर्म करने में स्वतन्त्र न रहेंगे। अतः इस प्रकार आपकी मान्य तीनों ही बातों का खण्डन होनेसे आप अपसिद्धान्त हानि नामक निग्रह स्थानके

पात्र हैं; इससे आप यह न समझना कि हम आपका आश्रय लेते हैं। ये तो आपकी लिखी बातों से आपके ही पक्ष में दोष दिखलाये गये हैं। हम तो डङ्के की चोट युक्तिबल से जैन तीर्थंकरों के सम्बन्ध में इन सब बातों को प्रमाणित करते हैं। भूत और भविष्यत पदार्थों के साथ ज्ञान के अभाव की व्याप्ति नहीं है। अनुमानादि से आज भी हम उनको जानते हैं। राख से आग का ज्ञान या विशिष्ट मेघमाला से वर्षा का ज्ञान किया जाना उसका ज्वलन्त उदाहरण है। कौन कह सकता है कि भावी सूर्य ग्रहण और चन्द्र ग्रहण अनेक वर्ष पहिले ज्योतिषियों के द्वारा नहीं बतलाए जाते हैं और क्या यह भविष्य का ज्ञान नहीं है। दूसरी बात यह है कि वे पदार्थ वर्तमान में भले हो न हों, किन्तु अपने समय में अवश्य थे; अतः उनके ज्ञान न होने की बात उठाना व्यर्थ है। जहां पदार्थ अनन्त हैं वहां ज्ञान भी अनन्त है, अतः अनन्त से अनन्त का ज्ञान हो जाने में न तो पदार्थों को ही सान्त मानना पड़ता है और न ज्ञान को ही। आपके ऋषियों ने भी ज्ञान को अनन्त माना है; देखो "पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्ण मुदच्यते" यजु०। अतः यह बात भी निराधार है। ज्ञान ज्ञायक है न कि कारक है; अतः मनुष्यों के भविष्य को जानने पर भी किसी की स्वतंत्रतामें बाधा नहीं आसकती। ये बाधायें जगतकर्ता एवं कर्मफल दाता ईश्वर के सम्बन्ध में ही उठ सकती हैं, किन्तु हमारे तीर्थङ्कर कर्ता नहीं ज्ञाता हैं; अतः ये

बाधायें उनके सम्बन्ध में निराधार हैं। जहाँ कि विदाशया ने भारतवर्ष के साहित्य को नष्ट किया वहाँ जैन शास्त्र भी उनके शिकार होने से न बच सके। जैन शास्त्रों के सम्पूर्ण रूप से न मिलने के कारण जैन तीर्थङ्करों की पूरी पूरी भविष्य एवं भूत की बातों का वर्णन आजकल उपलब्ध नहीं है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने अपनी भविष्यवाणी में यूरोपीय महासमर आदि का वर्णन नहीं किया था, अतः आपका दोष देना निराधार है। जैन शास्त्रों में जिन २ बातों के सम्बन्ध में भविष्य वर्णन मिलता है वह सोलह आने ठीक उतर रहा है। कौन कह सकता है कि जैन तीर्थङ्करों की उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी वाद की भविष्यवाणी मिथ्या है। जैन तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता और जैन धर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध में कुछ प्रमाण हमने कल दिये थे, उनमें से मोहनजादारू के माडर्नरिव्यू के वर्णन का आप उसही पत्र से निराकरण करतेहैं,यह भी आपका भोलापन है। क्या अप्रैल सन् ३२ की बात मान्य है या अगस्त सन् ३२ की? महाशय जो आपको मालूम होना चाहिये कि अप्रैल में छपे हुए मत का अगस्त में निराकरण किया गया है। अतः हमारा ही उल्लेख ठीक है। दूसरी बात के सम्बन्ध में यह है कि वह मूर्ति जिस पर बैल का चिन्ह है, नग्न कायोत्सर्ग है। हमारा दावा है कि इस तरह की मूर्ति किसी अन्य सम्प्रदाय की नहीं हो सकती। हमारे साधुओं का इस तरह

से तप करना, हमारे शास्त्रों में कायोत्सर्ग ध्यान का यही रूप मिलना और हमारे मन्दिरों की वर्तमान मूर्तियों का इसी प्रकार होना, उसके अखण्डित प्रमाण हैं। तीसरी वात यह है कि उस समय के जो लेख मिले हैं उनमें जिनेश्वर आदि शब्द पाये जाते हैं, यह वात आर्य विद्वान डा० प्राणनाथ विद्यालंकार की गवेषणा से स्पष्ट है (देखो हिस्टॉरीकल क्वार्टर्ली १९३२)। न्यायविन्दु के जिस प्रमाण को आर्यसमाज बुद्ध के सम्बन्ध में समझता है यह उसकी भूल है। वौद्धों के यहां कोई ऋषभदेव या वर्द्धमान नाम के तीर्थङ्कर नहीं हुए, इस विषय में जैसी ग़लती स्वामी दयानन्द जी ने की थी वैसी ही आर्य समाज कर रहा है। उस समय भारतवर्ष का इतिहास अन्धकार में होने के कारण स्वामी जी ने भूल की थी किन्तु आर्यसमाज को तो अव आँखें खोलकर काम करना चाहिये। ज़रा अपने वेदों को ही देखिये, वहां क्या लिखते हैं—"ऋषभं भास्मानानां सयत्नानां विषासहितं हन्तारं शत्रुणां युधि विराजं गोपितं गवां" (ऋग्वेद ८-२४) इस मंत्र को आचार्य विरुपाक्ष वाडियर एम० ए० वेदतीर्थ ने जैन तीर्थङ्करों के सम्बन्ध में स्वीकार किया है। प्रोफ़ेसर मैग्डोनल्ड ने अपनी पुस्तक संस्कृत साहित्य के इतिहास में लिखा है कि ऋग्वेद में स्थल २ पर इक्ष्वाकु नामक राजकुमार का वर्णन है जो ऋषभ का दूसरा नाम है। यदि आर्यसमाज में शक्ति हो तो वह ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर जैनधर्म को नवीन या वौद्ध धर्म की

शाखा प्रमाणित करे। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता के सम्बन्ध में आर्यसमाज की बाधायें निराधार हैं तथा उसके समर्थन में अनेक तार्किक प्रमाण दिये जा चुके हैं, अतः सिद्ध है कि जैन तीर्थङ्कर सर्वज्ञ हैं।

ह० मुनिसुव्रतदास जैन,
प्रतिनिधि जैन समाज, पानीपत।

आर्यसमाज का उत्तरपत्र

[तारीख़ १०-११-३३—समय ८ बजे रात्रि]

आप लोगों ने जो प्रथम अनुमान में अनुमेयत्व हेतु दिया है और लिखा है कि जो जो अनुमेय होते हैं वह वह प्रत्यक्ष के विषय होते हैं, यह ठीक नहीं। क्योंकि प्रथम तो यह व्याप्ति ही निराधार है कि जो अनुमान का विषय हो वह प्रत्यक्ष का विषय भी होना चाहिये। व्याप्ति सिद्ध हुए बिना उसके आधार पर अनुमान कैसे अवस्थित हो सकता है? चुम्बक की आकर्षण शक्ति, विद्युत् आदि अनुमेय तो हैं, परन्तु प्रत्यक्ष नहीं। साधनसे साध्य की उपलब्धि को अनुमान कहते हैं। साधन, साध्य का कार्य, कारण, सहचर, पूर्वचर, उत्तरचर आदि अनेक रूप होता है। यदि ऐसा नियम हो कि जिसके कार्य आदि का प्रत्यक्ष हो उसका प्रत्यक्ष भी होना

चाहिये तो यह अनुमेय होने से प्रत्यक्ष होने का अनुमान बन सकता है, परन्तु ऐसा नियम नहीं है। एक ज्ञान के विषय को दूसरे ज्ञान का विषय होने की आवश्यकता नहीं। अतः अनुमेय होने से प्रत्यक्ष होने की बात मिथ्या है। दूसरा दोष इस अनुमान में यह है कि अनुमेय विषय किसी दूसरे का प्रत्यक्ष बतलाया जाता है। परन्तु यह भी एक अनोखी कल्पना है कि "मैं किसी वस्तु को अनुमान से तभी जान सकता हूं जब कि कोई दूसरा उसका प्रत्यक्ष कर रहा हो; अगर कोई उसे प्रत्यक्ष से नहीं जानता तो मैं उसे अनुमान से नहीं जान सकता"। इस विचित्र नियम का साधक क्या है? एक मकान के भीतर आग लगी है, बाहर से उसका धुआँ देखकर हम अग्नि का अनुमान कर लेते हैं। यहां यह ज़रूरी नहीं कि मकान के भीतर कोई मनुष्य बैठा २ अग्नि का प्रत्यक्ष कर रहा हो तभी हम बाहर से अग्नि का अनुमान कर सकें, अन्यथा नहीं। प्रथम तो अनुमेयत्व और प्रत्यक्षत्व की व्याप्ति तो असिद्ध है ही; साथ ही इसकी असिद्धता तब और बढ़ जाती है जब इसमें वैयधिकरण दोष आ जाता है। दूसरे को प्रत्यक्ष हुए बिना हमारा अनुमान भी न हो सकेगा, इस प्रकार एक आत्मा के ज्ञान का गठबन्धन ज़बर्दस्ती दूसरे के साथ करने का कोई कारण नहीं है। इसलिये हमारे अनुमेयत्व से दूसरे के प्रत्यक्षत्व का कोई सम्बन्ध नहीं है। "अनुमेय का प्रत्यक्ष होना आवश्यक है" आपके इस कथन के उत्तर में हमारा

वक्तव्य है कि अनुमान के मूल में प्रत्यक्ष अवश्य रहता है, परन्तु वह अनुमेय का ही प्रत्यक्ष होना आवश्यक नहीं। जैसे हमारा अनुमान है कि "परमाणु हैं; अगर परमाणु न होते तो स्कन्ध (पिण्ड) कहाँ से आते"। इस अनुमान में परमाणुओं की सिद्धि तो की गई, परन्तु हम परमाणुओं का प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। हम बड़े पिण्डों से छोटे पिण्डों को बनते देखते हैं। इसलिये बड़े पिण्डों और छोटे टुकड़ों का कार्य कारण सम्बन्ध हम जानते हैं। इस सम्बन्ध ज्ञान के मूल में छोटे टुकड़ों और बड़े पिण्डों का प्रत्यक्ष है। इसी तर्क के आधार पर हम इस बात का अनुमान भी करते हैं कि कोई सबसे छोटा टुकड़ा भी होगा। प्रत्यक्ष में हमें सबसे छोटा और सबसे बड़ा इस बात से जो अनुभव होता है उसी का अनुमान हम परमाणु में करते हैं। मतलब यह है कि सबसे छोटेपन की कल्पना अनुभवमूलक है, किन्तु हम परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं करते, इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि जो अनुमेय है वह प्रत्यक्ष का विषय होना भी आवश्यक है। एक और दोष यहां पर यह है कि यदि आपकी यह व्याप्ति स्वीकार भी करली जाय तो भी यह कैसे कहा जा सकता है कि जितना अनुमेय है वह सब किसी एक ही प्राणी का प्रत्यक्ष है? जगत के जितने पदार्थ अलग अलग प्राणियों के लिये अनुमेय हैं इसी प्रकार अलग अलग प्राणियों के लिये अलग अलग प्रत्यक्ष हो सकते हैं। एक ही आत्मा सब पदार्थों का प्रत्यक्ष करे इस बात की सिद्धि

इस अनुमान से नहीं होती; इसलिये इससे सर्वज्ञसिद्धि नहीं हो सकती। इसी प्रकार का एक दोष यह है कि सम्पूर्ण पदार्थ अनुमान के विषय नहीं हैं। अनुमान के द्वारा हम संसार के सब पदार्थों की त्रैकालिक पर्य्यायें नहीं जान सकते। अनुमेय पदार्थ बहुत थोड़े हैं तब उसको प्रत्यक्ष करने से कोई आपकी मान्यता के अनुसार सर्वज्ञ कैसे कहला सकता है। यह तो बिलकुल स्पष्ट ही है कि सम्पूर्ण पदार्थ अनुमान के विषय नहीं हैं, क्योंकि कहीं पर अनुमान सर्वज्ञ सिद्ध नहीं हुआ। इस विषय में जैन शास्त्रों की साक्षी भी मिलती है। जैन शास्त्रों में अनुमान को मति या श्रुत ज्ञान के भीतर माना है और मतिज्ञान श्रुतज्ञान का विषय बतलाया है कि ये द्रव्यों की थोड़ी सी पर्य्यायें जानते हैं--सब या अनन्त पर्य्यायें नहीं जानते। जब समग्र मति श्रुत ज्ञानमें अनन्त पर्य्यायें जानने की शक्ति ही नहीं है तब उसके एक टुकड़े अनुमान में से सब पर्य्यायों के जानने की शक्ति कहां से आसकती है? इस प्रकार जब अनुमेयत्व रूप हेतु सब पदार्थों में नहीं है तब प्रत्यक्ष रूप साध्य वहां कैसे रह सकता है। श्रीमान् जी! जिस स्थल से आपने अपने उल्लिखित हेत्वाभासों की नक़ल की है वहीं से यदि आप उनका उत्तर भी पढ़ लेते तो आपको ये हेत्वाभास लिख कर काले काग़ज़ करने की आवश्यकता न पड़ती। इसलिए हमें भी बुख़ार की दवा कुनैन देनी पड़ी।

तीर्थङ्करों के अतिशय

(१) उत्तर पुराण पर्व ७४ श्लोक २५१ में लिखा है कि जब महावीर गर्भ में आने को थे तब विदेह नामक देश में कुण्डलपुर के राजा सिद्धार्थ के घर प्रति दिन १५ महीने तक साढ़े तीन करोड़ मणियों की वर्षा होती रही। यह वर्षा इन्द्र ने भगवान को खुश करने के लिये की थी। प्रत्येक बुद्धिमान् जान सकता है कि यह कवि की कल्पना है, कोई सत्य घटना नहीं। इस कल्पना से सर्वज्ञत्व की तो क्या सिद्धि होनी थी, हाँ, विचारे इन्द्र की बुद्धिमत्ता का पता लग गया। इसने वर्षा करते हुए यह विचार नहीं किया कि भगवान् के माता पिता आदि की क्या अवस्था होगी। वे विचारे घर में किस प्रकार इतने दिन काटेंगे? क्योंकि रत्नों की वर्षा से हर समय चोट लगने का भय बना ही रहता होगा? सम्भव है इन्होंने किसी दूसरे घर में जाकर समय व्यतीत किया हो और अपनी बुद्धिमानी से बच गये हों, अन्यथा इन्द्र की बुद्धि का फल तो मिल ही जाता। जैनी लोग इन ग्रन्थों को सर्वज्ञ भाषित कहते हैं, अतः सम्भव है कि इन सर्वज्ञों की इन्द्र के साथ पूर्व समय की कुछ अनबन हो।

(२) जब तीर्थङ्कर गर्भ में आ जाते हैं तो उनकी माता की सेवा करने को ५६ देवांगनायें आती हैं यथा कल्पवासिन की बारह, भवनवासियों की इन्द्राणी बीस, व्यंतर इन्द्र की इन्द्राणी सोलह, चन्द्रमा की एक, सूर्य की एक, कुलाचल

वासियों की श्रीआदि छः, कुल छप्पन; यह आदि पुराणके आधार पर चर्चा समाधान पृष्ठ ६६ में लिखा है। चन्द्रमा और सूर्य की स्त्रियां होती हैं और वे भी पृथ्वी पर एक छोटे से नगर के एक मकान में आकर एक स्त्री की सेवा करती थीं, यह बात आप लोगों के सिवाय कौन मान सकता है?

(३) जिस समय सर्वज्ञ भगवान् जन्म लेते हैं तो इन्द्र उनका अभिवादन करने आता है वह हाथी आठ लाख मील लम्बा होता है तथा दो लाख मील ऊंचा होता है, इत्यादि। अच्छा हुआ जो इस समय यह हाथी नहीं आया, अन्यथा कहीं यह लीद कर देता अथवा पेशाब कर देता तो यह मथुरा, काशी जैसे छोटे नगर में जिनमें वह भयानक हाथी आया था क्या अवस्था होती। सबसे बड़ी बात तो यह है कि उस समय इस पृथ्वी पर करोड़ों आदमी थे। परन्तु किसीको यह हाथी दीखा तक नहीं। सम्भव है यहां कुछ राज़ हो।

(४) इन्द्र देवता उस हाथी पर बैठा कर भगवान को लेगया और पाण्डु शिला पर जाकर उनका स्नान कराने लगा। जिन कलशों से स्नान कराया था वे आठ योजन गहरे थे और एक योजन का उनका मुख था और चार योजन का उनका उदर था।

(५) उनका शरीर परम औदारिक था अर्थात् उनका शरीर अलौकिक था; यथा—"अस्वेदमलमाभाति सुगन्धं शुभ

लक्षणं" आदिपुराण पर्व २५, इन्द्र स्तुति। अर्थात् तीर्थङ्करों के शरीर में पसीना नहीं आता तथा अन्य मलमूत्र भी नहीं होते।

(६) अनन्तबल अर्थात् तीनों लोकों को हाथ पर उठाने की उनमें शक्ति होती है। एक मनुष्य में इतनी शक्ति का होना सर्वथा असम्भव है।

(७) श्वेत रक्त अर्थात् तीर्थङ्करों का रक्त लाल नहीं होता अपितु सफ़ेद दूध की तरह होता है।

(८) वज्र की हड्डियाँ।

(९) शरीर में अतिशय सुगन्ध।

(१०) एक हज़ार आठ लक्षण युक्त शरीर।

(११) निमेष उन्मेष रहित आँखें।

(१२) नख और केश बढ़ते न थे।

(१३) वृद्ध अवस्था न आना।

(१४) शरीर की छाया नहीं होती थी।

(१५) एक मुख के चार मुख दीखना।

(१६) जहां वे रहते थे वहाँ से २०० योजन तक सुभिक्ष ही रहता था।

(१७) आकाश गमन।

(१८) भामण्डल—भगवान के पीछे एक भामण्डल होता था। इस का प्रकाश सूर्य से भी करोड़ों गुना होता था अर्थात् उसके आगे सूर्य छुप जाता था।

इत्यादि अनेक अतिशय भगवान के बतलाये हैं जिनका

यह मतभेद इतनें भयानक रूप में था तथा आपके सिद्धान्तानुसार तो उपरोक्त पुस्तक सर्वज्ञ वाणी है। अब आप ही बतलावें कि एक सर्वज्ञ एक ही विषय में चार बातें परस्पर विरुद्ध बतलाता है तो कौनसी बात को सत्य माना जावे। और यदि परस्पर विरुद्ध बतलाना भी सर्वज्ञत्व है तो अल्पज्ञत्व में और सर्वज्ञत्व में नाममात्र का ही अन्तर है। नाम के लिये तो हमारा कोई विवाद नहीं है। एक बात और विचारणीय है—यदि महावीर स्वामी ऐसी विचित्र शक्तिसम्पन्न व्यक्ति हुए होते तो हिन्दुओं ने उनको अपने अवतारों में क्यों नहीं गिना। यदि कहोगे मतभेद के कारण, तो मतभेद तो बुद्ध भगवान से भी था। क्या कारण है कि जिन महावीर स्वामी के दर्शन करने को स्वर्ग से असंख्यों देव आते थे, परन्तु मनुष्यों को फिर भी महावीर स्वामी की सर्वज्ञता में विश्वास नहीं होता था और लोग बुद्ध के ही अनुयायी अधिक बनते थे। वास्तव में तो महावीर स्वामी बुद्ध के सात शिष्यों में से एक साधारण शिष्य थे। बुद्ध के साथ इनका कुछ मतभेद हो गया और इन्होंने अपना नया पंथ चला लिया। बाद में लोगों के अन्दर इनके शिष्यों ने इनके विषय में अनेक प्रकार की विचित्र बातें फैलाना आरम्भ किया, तो लोगों ने यह कहा कि उन महावीर स्वामी में तो ये बातें नहीं जो आप बतलाते हैं; तो उनके शिष्यों ने यह कहना आरम्भ किया कि वे तो पूर्व समय में हो चुके हैं। बस किसी ने कितना ही समय

वतलाया तो किसी ने कितना ही, क्योंकि असत्य कभी भी एक प्रकार का नहीं हो सकता। शनैः शनैः तीर्थङ्करों के अतिशयों की सृष्टि रची गई और पुनः जब वैदिक दर्शन के विद्वानों ने निराकार सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ ईश्वर की सिद्धि अकाट्य युक्तियों से की तो इन्होंने भी ये गुण मनुष्य में मान लिये।

ह० सोहनलाल, मंत्री आर्यसमाज, पानीपत।

---

[५]

जैनसमाज का पत्र

[तारीख़ ११-११-२३—समय ८ बजे प्रातः]

आर्यसमाज के आज के उत्तरपत्र से यह तो प्रगट है कि आर्यसमाज ने अपने आज के पत्र में पहला पेज जैनजगत अङ्क १२ वर्ष ८ से नक़ल करके लिखा है। नक़ल करना कोई बुरी बात नहीं है किन्तु उसको भी योग्य व्यक्तियों द्वारा ही कराना चाहिये; अन्यथा वह सब मतलब जिसके लिये कि ऐसा किया जाता है, नष्ट हो जाता है। वह आदमी जो वैद्यक के बड़े बड़े शास्त्रों को लेकर बैठ जाता है और बग़ैर रोग की परीक्षा ही पुस्तकों में से दवाई लिखकर देने लगता है, वैद्य नहीं कहा जा सकता—वह तो जन समुदाय का घातक है। यही हालत आर्यसमाज के नक़लचियों की है। विचारों ने यह सोचा था कि जैनजगत में सर्वज्ञता के खंडन की युक्तियाँ हैं, चलो उनकी नक़ल करदो, काम का काम बन जायगा और पण्डित के पण्डित कहलायेंगे, किन्तु भविष्य के इस परिणाम को न सोचा कि अगर यह ठीक न बैठीं तो

विद्वत समाज "घर में नहीं दाने अम्मा चली भुनाने" वाली कहावत को चरितार्थ करेगा, अस्तु। आर्यसमाज के पहले पेज के वक्तव्य को यदि संक्षेप में कहना चाहें तो यों कहना चाहिये कि आर्यसमाज ने हमारे अनुमेयत्व हेतु के सम्बन्ध में चार बाधाएं पेशकी हैं-(१) अनुमेयत्व और प्रत्यक्षत्व की व्याप्ति ही असिद्ध है (२) इसमें व्यधिकरण दोष आता है (३) व्याप्ति स्वीकार करलेने पर भी यह कैसे कहा जासकता है कि जितना अनुमेय है वह सब एक ही प्राणी का प्रत्यक्ष है (४) सम्पूर्ण पदार्थ अनुमान के विषय नहीं, तब उनको प्रत्यक्ष कर लेने पर भी प्रचलित भाषा के अनुसार सर्वज्ञ कैसे कहा जा सकता है। पहली बात के लिये आर्यसमाज ने चुम्बक की आकर्षण शक्ति का दृष्टान्त दिया है किन्तु आर्यसमाज को वह बात याद न आई जो वह ईश्वर के कर्तावाद में घास २ चिल्ला कर साध्यन्तपति बतलाता था। आर्यसमाज को मालूम होना चाहिये कि कर्तावाद के अनुमान में घास की तरह चुम्बक की आकर्षण शक्ति भी सूक्ष्म होने से साध्य ही है, अतः इससे व्यभिचार दोष नहीं दिया जा सकता; देखो न्याय का सिद्धान्त "नहि पक्षै कृतैरेव व्यभिचारोद्भावनं युक्तं सर्वस्यानुमानस्य व्यभिचारित्व प्रसङ्गात्" अर्थात् पक्षी कृत विषयों के द्वारा व्यभिचार नहीं दिया जा सकता। यदि ऐसा होगा तो सम्पूर्ण अनुमान व्यभिचारी हो जायेंगे। इससे सिद्ध है कि समाज की पहली बाधा मिथ्या है। दूसरी बाधा के संबन्ध

में बात यह है कि यह हम कब कहते हैं कि प्रत्यक्ष के अभाव में अनुमान भी नहीं होता या आग वाले कोठे की आग का यदि कोई प्रत्यक्ष नहीं कर रहा तो हम को उसका अनुमान भी नहीं होगा। एक आत्मा के ज्ञान के साथ दूसरे के ज्ञान का गठबन्धन जोड़ने का हमारा अभिमत कदापि नहीं है। ये बातें तो तब कही जा सकती थीं जबकि मौजूदा व्याप्ति प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुमान ज्ञान की होती, किन्तु ऐसा है नहीं। मौजूदा व्याप्ति तो प्रत्यक्ष विषयता और अनुमान विषयता की है। प्रत्यक्ष ज्ञान और प्रत्यक्ष विषयता ये बिलकुल भिन्न भिन्न बातें हैं। इसी प्रकार अनुमान ज्ञान और अनुमान विषयता इन दोनोंमें पहला यदि ज्ञान स्वरूप है तो दूसरा ज्ञेय स्वरूप। अतः आर्यसमाज की गठ बन्धन की बात मिथ्या है। व्यधिकरण के सम्बन्ध में बात यह है कि प्रथम तो व्यधिकरण कोई दूषण ही नहीं; यदि इसको दूषण मान लिया जाएगा तो पूर्व-चर और उत्तरचर हेतुओं का अभाव हो जायगा। कौन कह सकता है कि शकट का उदय होगा, क्योंकि अभी कृतिका का उदय है। इस अनुमान में व्यधिकरण के होते हुए भी कमकता नहीं है। दूसरे यहाँ व्यधिकरण है भी नहीं। अनुमान विपयता किसी अन्य पदार्थ में होती और प्रत्यक्ष विषयता किसी अन्य में, तब तो व्यधिकरण की सम्भावना थी; किन्तु यहां तो जिसमें प्रत्यक्ष विषयता है उसी में अनुमान विषयता है, अतः स्पष्ट है कि इस व्याप्ति के सम्बन्ध में आर्यसमाज की दूसरी बाधा भी

ठीक नहीं। इसी प्रकार आर्यसमाज की तीसरी आपत्ति भी निराधार है। जब आर्यसमाज इस व्याप्ति को स्वीकार कर लेता है तो यह स्वयं सिद्ध है कि सूक्ष्म अन्तरित और दूरवर्ती में वह प्रत्यक्ष विषयता को स्वीकार करता है तथा स्थूल वर्तमान और सम्बद्ध पदार्थों की प्रत्यक्ष विषयता स्वयं सिद्ध है। इसका परिणाम यह निकला कि जगत के सम्पूर्ण पदार्थों में प्रत्यक्ष विषयता आर्यसमाज को इष्ट है। विरोध की केवल इतनी बात है कि ये प्रत्यक्ष विषयता एक व्यक्तिके प्रत्यक्ष की दृष्टि से है या अनेक के। जगत के संपूर्ण पदार्थों में अनेक व्यक्तियों के प्रत्यक्षों की दृष्टि से प्रत्यक्ष विषयता स्वीकार करना ही इस बात को प्रमाणित करता है कि उनमें एक व्यक्ति की दृष्टि से भी प्रत्यक्ष विषयता है। यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि समान से समान समान हुआ करता है। सोले आने और एक रुपया समान है, अतः इन दोनों में से जो एक के समान होगा वह दूसरे के भी अवश्य समान होगा। चार चौअन्नियां १६ आने के समान हैं, अतः एक रुपये के समान हैं। इसी प्रकार जितनी भी आत्माएँ हैं वे सब स्वरूप की दृष्टि से समान हैं, अतः जिसको एक आत्मा जानती है उसी को दूसरी भी; इसी प्रकार तीसरी और चौथी इत्यादि। जिस प्रकार कि एक आत्मा के ज्ञेय को दूसरी तीसरी आदि आत्माएँ जान सकती हैं उसी तरह ये भी उनके ज्ञेयों को जान सकती हैं। इससे यह निष्कर्ष सिद्ध हुआ कि अनेक आत्माओं के प्रत्यक्षों

द्वारा जाने हुए पदार्थों को एक आत्मा भी प्रत्यक्ष से जान सकता है। इस प्रकार अनुमानमें आर्यसमाज द्वारा निकाली हुई तीसरी बाधा भी निर्मूल होजाती है। आर्यसमाज ने अनुमान के सम्बन्ध में जो यह चौथी आपत्ति उपस्थित की है कि सम्पूर्ण पदार्थ अनुमान के विषय नहीं, सो हम पूछते हैं कि यह बात एक अनुमान की दृष्टि से है या अनेक अनुमान की? यदि एक अनुमान की तब तो इस बात को हम भी स्वीकार करते हैं। कोई अनुमान सर्वज्ञ सिद्ध नहीं हुआ आपका यह लिखना भी एक ही अनुमान की दृष्टि से है। जैन शास्त्रों की साक्षी भी उपरोक्त मत को ही सिद्ध करती है। अनुमान का विषय मतिज्ञान या श्रुतज्ञान के भीतर बतलाया है और मति या श्रुतज्ञान पदार्थ की सम्पूर्ण अवस्थाओं को नहीं जानते, यह भी एक अनुमान एक मति और एक श्रुत ज्ञान की दृष्टि से है। और यदि आर्य-समाज का उपरोक्त कथन कि सम्पूर्ण पदार्थ अनुमान के विषय नहीं अनेक अनुमान की दृष्टि से है तो यह बात ठीक नहीं। भूत, वर्तमान और भविष्यत के पदार्थों का अनेक अनुमान का ज्ञेय होना यह एक स्वाभाविक बात है। प्रमाण से जाने हुए पदार्थ के एक अंश को नय जानता है, इसीलिये प्रमाण और नय में अंशी और अंश का भेद है। किन्तु यदि अनेक नय मिल जाएँ तो वे सब उस पदार्थ के सम्पूर्ण अंशों को जान लेती हैं। नय का ज्ञेय प्रमाण के ज्ञेय की सीमा के भीतर ही रहता है, यह कथन जब एक नय की दृष्टि से होता है तब तो ठीक,

बैठता है, किन्तु जब यही कथन अनेक नयों की दृष्टि से होता है तब यह ऐसा साबित नहीं होता। मौजूदा व्याप्ति अनुमान विषयता के साथ प्रयत्क्ष विषयता की है। चाहे यह अनुमान विषयता एक अनुमान के द्वारा आवे या अनेक के। यहां तो केवल अनुमान विषयता से प्रयोजन है न कि उसकी संख्या से। इससे स्पष्ट है कि आर्यसमाज की चौथी बाधा भी मौजूदा व्याप्ति के सम्बन्ध में युक्तियुक्त नहीं। महाशय जी अब आपको समझ जाना चाहिये कि आपकी नक़ल की हुई बातें भी जैन तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता के खण्डन के लिये अकिञ्चितकर हैं।

आगे आपने ऐतिहासिक नामसे कुछ प्रमाणाभास देकर चौवीस तीर्थङ्करोंके अस्तित्वको काल्पनिक सिद्ध करने का मिथ्या प्रयास किया है। आश्चर्य है कि इतिहास के ज्ञान से कोरे मनुष्य भी इतिहास में हस्तक्षेप करना चाहते हैं। लिखने से पहले कम से कम यह तो सोच लेना चाहिये कि हम अपने हाथ से जो कुछ लिख कर देते हैं वह हमेशा के लिये नज़ीर हो जाते हैं। हमें खेद है कि इस शास्त्रार्थ के प्रकाशित होने पर लोग आपके ऐतिहासिक ज्ञान पर हंसेंगे। आपने पुलकेशी के समय के बने हुए किसी मन्दिर का उदाहरण देकर, जो शक सम्वत् ५५६ का बना हुआ बतलाया गया है, लिखा है कि उस मन्दिर के बनने तक तो जैनियों में भी चौवीस तीर्थङ्करोंकी कल्पना नहीं मानी जाती थी। धन्य है महाशयजी आपकी कल्पना शक्ति को! शक सम्वत् ५५६ यानि विक्रम

सम्वत ६९१ के पूर्व के बने हुए अनेक ग्रन्थों में चौवीस तीर्थङ्करों की चर्चा है और यदि उस समय तक चौवीस तीर्थंकरों की चर्चा नहीं थी तो उस मन्दिर में किनकी मूर्तियाँ स्थापित की गई थीं, यह बतलावें। खण्डगिरि, उदयगिरि नामक पहाड़ की हाथी गुफा में जो शिलालेख पाया गया है उसका सम्बन्ध कलिङ्ग चक्रवर्ती जैन राजा खारवेल से है। खारवेल का समय १७० ई० पूर्व के लगभग है। उसमें लिखा है कि मगधाधिपति पुष्पमित्र के पूर्वाधिकारी राजा नन्द श्री ऋषभदेव की प्रतिमा कलिंग देश से मगध ले गये थे और वह प्रतिमा खारवेल ने नन्द राजा के ३०० वर्ष बाद पुष्प मित्र से प्राप्त की। इस शिलालेख से स्पष्ट है कि आज से २४०० वर्ष पहले भी आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की मूर्ति की पूजा होती थी। मोहन जो दारु की खुदाई में पाई गई हुई जैन मूर्तियों का उल्लेख कल के परचे में किया जा चुका है; अतः तीर्थङ्करों के अस्तित्व को सातवीं शताब्दि की कल्पना बतलाना बिल्कुल अज्ञानता है। आगे आपने त्रैलोक्य प्रज्ञप्ति के कर्ता की एक गाथा उद्धृत करके सर्वज्ञता पर दोषारोपण किया है, जो आपकी भूल है। त्रैलोक्य प्रज्ञप्ति के कर्ता ने वीर भगवान के मोक्ष जाने के बाद शक राजा की उत्पत्ति के समय का उल्लेख किया है। अतः स्पष्ट है कि वीर भगवान के मोक्ष जाने में विवाद नहीं था—विवाद था शक राजा के समय में जो कि उस समय के इतिहासज्ञों में प्रचलित था। ग्रन्थकार ने सर्वज्ञ

के वचनों का निर्देश नहीं किया है किन्तु अपने समय के भिन्न भिन्न इतिहासज्ञों का मत दिया है। यदि यह वीर भगवान के शब्द होते तो उसमें भावी घटना का वर्णन भविष्यत क्रिया के रूप में किया जाता, किन्तु वहाँ तो "वीर जिणं सिद्धि गदे उप्पण्णो एत्थ सगराओ" लिखकर स्पष्ट भूतकाल का निर्देष किया गया है। आगे आप लिखते हैं कि यदि महावीर स्वामी ऐसे विचित्र शक्ति सम्पन्न व्यक्ति हुए होते तो हिन्दुओं ने उनको अपने अवतारों में क्यों नहीं गिना! महाशय जी! प्रथम तो हिन्दुओं के अवतारों में गिना जाना महत्ता के लिये कोई छाप नहीं। दूसरे हिन्दुओं ने बुद्ध के व्यक्तित्व से आकर्पित होकर बुद्ध को अपने अवतारों में नहीं गिना किन्तु इसमें बहुत बड़ा रहस्य है। बौद्ध धर्म कोई प्राचीन धर्म नहीं था। करोड़ों की संख्या में हिन्दू जनता ही बुद्ध के प्रभाव से प्रभावित होकर बौद्ध बन गई थी तथा बनती जाती थी। हिन्दू धर्म के शुभचिन्तकों ने जनता को भुलावा देने के लिये बुद्ध को अपने अवतारों में गिन लिया और जनता में प्रचार किया कि 'बुद्ध' भी हिन्दू धर्म के ही अवतार थे। उस समय बौद्ध धर्म का ह्रास हो चला था। इस अवतारवाद ने भोली जनता को पुनः हिन्दू धर्म में प्रविष्ट करा दिया, किन्तु इसके विपरीत जैनधर्म के मानने वाले कुल क्रमागत जैन थे; अतः महावीर को अवतार गिन लेने पर भी अपने धर्म को भुला कर हिन्दू धर्म में दीक्षित होने की

आशा जैन जनतासे नहीं की जा सकती थी। इसलिये महावीर को अवतारों में स्थान नहीं दिया गया। इसके अतिरिक्त स्वयं तुम्हारे समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द जी ने सत्यार्थ-प्रकाश द्वादश समुल्लास में जैनमत और बौद्धमत के इतिहास का वर्णन करते हुए निम्नलिखित पंक्तियां लिखी हैं:—"स्वामी शङ्कराचार्य से पहिले, जिनको हुए कुल हज़ार वर्ष के लगभग गुज़रे हैं, सारे भारतवर्ष में बौद्ध अथवा जैनधर्म फैला हुआ था। बौद्ध कहने से हमारा आशय उस मत से है जो महावीर के गणधर गौतम स्वामी के समय से शङ्कर स्वामी के समय तक वेद विरुद्ध सारे भारतवर्ष में फैला रहा और जिसको अशोक और सम्प्रति महाराजा ने माना"। आपके गुरु के उपरोक्त मन्तव्य से आपकी यह धारणा कि महावीर स्वामी बुद्ध के शिष्यों में से एक थे सर्वथा निर्मूल हो जाती है। यदि आप बुद्ध का पाली ग्रन्थ दीर्घनिकाय उठाकर देखेंगे तो उससे आपको पूर्णतया सिद्ध हो जायगा कि महावीर स्वामी बुद्ध के शिष्य नहीं थे बल्कि अपने समय के महान व्यक्ति तीर्थङ्कर थे— "अञ्ञतरो पि खो राजा मच्चो राजानं मागधं अजातसत्तुं वेदेही पुत्तं एतद वो च अयं देव निगंठो नातपुत्तो संघो चेव गणी च गणाचारियो च ञातो यसस्सी तित्थ करो साधु संमत्तो बहु जनस्स रत्तस्सू चिरपब्बजितो अद्धगतो वयो अनुपत्तो ति"। रत्नवर्षा, देवाङ्गनाओं का भगवान की माता का सेवा करना, इन्द्र का मायामयी हाथी पर चढ़कर आना और बड़े २

कलशों से भगवान् को स्नान कराना और भगवान् के पसीना न आना, परछाईं न पड़ना, आकाश गमन, नख केशों का न बढ़ना, आदि बातें असम्भव नहीं, बाधक प्रमाणों के न होने से आर्यसमाज के अस्तित्व की तरह। दूसरी बात यह है कि आर्यसमाज का इनके सम्बन्ध में शङ्का करना ही वैदिक साहित्य से अनभिज्ञता प्रगट करना है। क्योंकि वैदिक साहित्य में इस प्रकार की बातें स्थान २ पर मिलती हैं। देखो श्वे० उप० २—१३—"लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्ण प्रसादं स्वर सौष्ठवं च। गंधा शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगं प्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति"। अर्थात् योगियों के देह का हल्कापन, निरोगता, निरलोभपन, मुखादि का प्रभाव शाली होना, स्वर का उत्तम होना, शरीर का शुभ गंध वाला होना, मूत्र पुरीश आदि मलों का बहुत कम होना, ये योग की प्राथमिक सिद्धियां हैं अर्थात् योगी जन योग के प्रभाव से उपरोक्त गुणों की और भी अधिक सिद्धि कर सकते हैं। योगदर्शन के विभूति पाद के ३९ से ४९ तक सूत्रों में उन तमाम ऋद्धि सिद्धियों का पूर्णतया वर्णन किया गया है जो कि एक योगीश्वर तप के प्रभाव से प्राप्त कर लेता है अर्थात् आकाश गमन, शरीर छोटा बड़ा करना, इच्छित पदार्थ का प्राप्त करना, अग्नि पर्वतादि में से निकल जाना आदि। इन्द्र द्वारा रत्नवृष्टि व पुष्प वृष्टि के सम्बन्ध में देखो अथर्व वेद १०—७—२८ "हिरण्यगर्भं परम मत्त्ययुद्य जना विदुः; स्कम्भस्तदग्रे प्रासिञ्चद्धिरण्य लोकेऽन्तरा" अर्थात्

लोग हिरण्यगर्भ को परम मानते हैं उससे पहिले ही (अर्थात् उसके जन्म से पहिले ही) स्कम्भ ने अर्थात् इन्द्र ने लोक के अन्दर हिरण्य अर्थात् धन की वृष्टि की। इसी बात की पुष्टि में देखें उपवेद चर्क संहिता सूत्र स्थान प्रथम अध्याय— इसमें पुनर्वसु के शिष्यों द्वारा सूत्र ग्रन्थ रचे जाने पर उस दृश्य का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है जो स्वर्गस्थ देव ऋषियों और देवताओं ने सूत्र ग्रन्थों की रचनाओं के प्रति अपना आनन्द प्रगट करने के लिये गम्भीर जयध्वनि करके, शीतल मन्द सुगन्ध पवन चलाकर, दशों दिशाओं को प्रकाशित करके और आकाश से पुष्पों की वृष्टि करके ना लोकस्थ मनुष्यों को दर्शाया था; इत्यादि इत्यादि और भी बहुत से प्रमाण दिये जा सकते हैं। तीसरी बात यह है कि यह सब बातें भगवान् के पुण्य का फल हैं, इनका सर्वज्ञत्व से कोई अविनाभाव नहीं और न इस दृष्टि से भगवान् को पूज्य ही माना जाता है (देखो अष्ट सहस्री पृष्ठ १ से ५ तक), अतः यह प्रकृत विषय से असंबन्धित भी है। उपरोक्त विवेचन से प्रगट है कि तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता के विरोध में उठाई गई आपत्तियाँ मिथ्या हैं और साधक प्रमाण अखण्डित हैं, अतः सिद्ध है कि जैन तीर्थङ्कर सर्वज्ञ हैं।

ह० मुनिसुव्रतदास जैन,
प्रतिनिधि जैन समाज, पानीपत।

आर्यसमाज का उत्तरपत्र

[तारीख़ ११-११-३३—समय १२ बजे दोपहर]

तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता सिद्ध करने के लिये जब एक भी प्रमाण न मिला तो जैनसमाज गालियों पर उतर आया है और अपनी हार को स्वीकार कर लिया है। जैनसमाज ने सर्वज्ञता की सिद्धि में जो हेतु दिये थे वे उसी जैनजगत से नक़ल करके दिये, इसलिये हमनें लिख दिया था कि आपने जहां से इन प्रश्नों को नक़ल किया है, वहीं उत्तर भी देख लेवें। इसपर जैनसमाज ने अपना असली रूप प्रकट कर दिया और नक्लची आदि शब्दों द्वारा पुष्प वर्षा करने लगा। आपने पहले भी अपने इन शब्दों को लिखकर अपनी सभ्यता प्रकट की थी, परन्तु हमने उसका तद्रूप उत्तर देना उचित नहीं समझा था। श्रीमान् जी, यदि आपको नक़लची देखने हैं तो जैनधर्म के प्रसिद्ध विद्वान् का बम्बई में दिया हुआ व्याख्यान पढ़ें—यह व्याख्यान २ सितम्बर, १९३२ को हीराबाग़ के व्याख्यान मन्दिर में श्री० पं० नाथूराम जी प्रेमी ने दिया था। और अधिक विस्तार में जाना हो तो धर्म परीक्षा, धूर्ताख्यान को देखलेवें जिनमें अक्षरशः एक दूसरे की नक़ल है और अधिक देखना हो तो पद्म पुराण देख लेवें जो एक श्वेताम्बरियों की नक़ल करके अपने नाम से छपवादी है। इसी

प्रकार आपके अपने आचार ग्रन्थों में मनुस्मृति और मिताक्षरा के प्रकरण के प्रकरण नक़ल करके अपने नाम से लिख दिये हैं और ईश्वर विषयक आपका प्रथम पत्र भी जैन सिद्धान्त दर्पण की नक़ल मात्र था। हमने तो आपको अन्त में इसका संकेत भी कर दिया था और आपने उसको समझ भी लिया। यदि आपको अब भी सन्तोष न हुआ हो तो हमारे पास इसके लिये काफ़ी मसाला है। आगे आपने इस बात को स्वीकार कर लिया कि "पक्षैकदेश में दोष देना उचित नहीं, तथा हमने जो पूर्व ईश्वर कर्तृत्व शास्त्रार्थ में जो घासादि में व्यभिचार दोष दिखलाया था वह मिथ्या था"; इसके लिये आपको धन्यवाद है--आख़िर 'सचाई छिप नहीं सकती बनावट के उसूलों से'। आगे आपने इतिहास के विषय में आर्यसमाज को इतिहास से कोरा आदि शब्दों से स्मरण किया है जिससे आपने अपनी विद्वत्ता प्रकट करने का प्रयत्न किया है। "अर्धोघटः घोषमुपैति नूनम्" अर्थात् "अधभरि गगरी छलकत जाए"—हो सकता है कि जैन समाज में इतिहास के सबसे बड़े पण्डित हों। परन्तु इस लेखके सिवाय तो इस बात को और कोई प्रमाण है नहीं। आगे आपने एक अथर्व वेद का मंत्र देकर उसका यह अर्थ किया है कि "हिरण्य गर्भ के जन्म से पहले ही इन्द्र ने धन की वृष्टि की"—यह है आपका पाण्डित्य और इतिहासज्ञता जिसपर जैन समाज को अभिमान है और जिसके सहारे इतिहास की खोज करता है। असल तो

यह है कि जैनसमाज ने यह निश्चय कर लिया है कि इधर उधर से झूठी सच्ची बातें लिखकर लोगों को धोखे में डाला जाए। यदि इसी प्रकार की आपके शास्त्रों से कुछ इबारतें लिखकर आपकी तरह हम भी अर्थ करें तो आपको बुद्धि आजाए! भला जब इस मंत्र में "हिरण्यगर्भ" नाम परमात्मा का है जिसको आपने भी माना है अर्थात् परम तत्व है तो "उसके जन्म से पहले" किस शब्द का अर्थ कर दिया? इसी प्रकार आपने श्वेताश्वेतरोपनिषद और योग के नाम से कुछ लिख दिया है जिसका प्रकृत विषय से कुछ भी सम्बन्ध नहीं। श्रीमान् जी जिस जैन मन्दिर के शिलालेख का मैं ने हवाला दिया था उससे मैंने यह सिद्ध किया था कि यह मन्दिर भारत युद्धसे ३७३५ वर्ष बाद बना और शक संवत् ५५६ में बना, इससे महाभारत को हुए अनुमान से ५००० वर्ष ही हुए, यह बात ऐतिहासिक विद्वानों में सर्वसम्मत है; उसी समय कृष्ण जी थे और आपके नेमिनाथ कृष्णजी के भाई थे, उनको हुए ५००० वर्ष ही तो हो सकते हैं परन्तु आपके यहाँ ८६००० हज़ार वर्ष लिखे हैं। अब आप अपने उन इतिहास और पुरातत्व-विदाभिमानी महा पण्डितों के नामोल्लेख करें जो महाभारत युद्ध को ८६००० वर्ष पूर्व हुआ सिद्ध करते हों। यदि आप वैसा नहीं कर सकते तो नेमिनाथ की कथा तो कल्पित सिद्ध हो ही चुकी। अगर जैनसमाज को और कोई ऐतिहासिक विद्वान न मिले तो श्री बा० कामताप्रसाद जी जैन को ही उपस्थित

करदें जो अर्थों का अनर्थ करने और मिथ्या प्रमाण देने में सिद्धहस्त हो चुके हैं। हमारा दावा है कि जैनसमाज ने अपने को प्राचीन सिद्ध करने के लिये जो लेख, प्रकाशित की हैं, वे सब निराधार हैं—उनसे किसी से भी, जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध नहीं होती। त्रिलोक प्रज्ञप्ति का जो मैंने प्रमाण दिया था उसके विषय में आपने लिखा कि यह झगड़ा महावीर के निर्वाण विषय में नहीं है अपितु शक संवत् पर है। भगवन् आपके यहां सर्वज्ञ भविष्यवाणी द्वारा शकाब्द निश्चित हो चुका है, अतः शकाब्द में शक करने से महावीर निर्वाण में शक होना निश्चित है। यह शास्त्रार्थ 'जैन तीर्थंकर सर्वज्ञ थे या नहीं' इस विषय पर है। इसमें जैनसमाज का कर्तव्य था कि अपने पक्ष की पुष्टि पंचावयवों से करता, परन्तु जैन विद्वान एक भी हेतु जैन तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता सिद्ध करने में न दे सके। देते भी कहाँ से जबकि इस विषय में कोई हेतु है ही नहीं। पांच बातें आपने हेतु के नाम से लिखी थीं, परन्तु जब हमने उनको ललकारा कि आप इनको, हेतुओं में से कौनसा हेतु है, यह सिद्ध करें तो जैनसमाज की क्रोधाग्नि भड़क उठी। हम पुनः जैनसमाज के विद्वानों को खुला चैलेञ्ज देते हैं कि वे अपने इन वाक्यों को हेतु सिद्ध करें। जब हमने देखा कि जैन विद्वानों को हेतु का स्वरूप भी नहीं ज्ञात है तो हमने हेतु के लक्षण और उसके भेद लिख कर भेज दिये और जैनसमाज से प्रार्थना की कि अब भी

आप इन वाक्यों को हेतु सिद्ध करें। परन्तु न तो जैनसमाज ने उक्त पूर्वोक्त अपनी प्रतिज्ञा रूप वाक्यों को, जिनको उसने पंचमी विभक्ति के रूप में लिखकर हेतु नाम दे दिया है, हेतु सिद्ध किया और न कोई अन्य सद्‌हेतु ही दिया। बस जब जैनसमाज के पास अपने दावे को सिद्ध करने के लिये एक भी सबूत या दलील नहीं, तो तीर्थङ्करों की अल्पज्ञता स्वयं सिद्ध हो गई। जैन समाज ने शास्त्रार्थ में हेतु के लिये उदाहरण की आवश्यकता नहीं है यह लिखकर न्याय शास्त्र का अपने ज्ञान का अवशेष परिचय और दे दिया। श्रीमान् जी परार्थ अनुमान के पांच अवयव समस्त प्राचीन नैयायिकोंने माने हैं जिनका नाम उन्होंने १. प्रतिज्ञा, २. हेतु, ३. उदाहरण, ४. उपनय और ५. निगमन रक्खा है। नवीन नैयायिक उपनय और निगमन को छोड़कर शेष तीनोंको परार्थ अनुमान का आवश्यक अङ्ग मानते हैं; केवल बौद्ध और जैन ही २ अंग मानते हैं, क्योंकि ये दोनों भाई ही ठहरे। यह अपनी असम्भव कल्पनाओं के लिये दृष्टान्त कहाँ से लाते? जैन तीर्थङ्कर सर्वज्ञ थे यह प्रत्यक्ष तो है ही नहीं; अनुमान आप कौनसा बतलाते हैं—१. पूर्ववत्? २. शेषवत्? ३. सामान्यतोदृष्ट? जब इनमें से कोई भी अनुमान नहीं है तो तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता कैसे अनुमान सिद्ध हो गई? हमने यह लिखा था कि देवदत्तादि कोई यद्वा तद्वा व्यक्ति आकर यह कहे कि मैं सर्वज्ञ हूं और आपने जो वाक्य हेतुओं के नाम से लिखे हैं उन्हीं को कहे तो आपके

पास उसके कथन के वारणार्थ क्या हेतु होंगे ? जिन हेतुओं से आप उनका वारण करेंगे वही हेतु हमारी ओर से तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता खण्डन में समझ लीजिए। इसमें हमने सशरीरत्व हेतु भी दिया था, परन्तु आपने उसका खण्डन कुछ नहीं किया, केवल इतना लिख दिया कि सशरीरत्व सर्वज्ञत्व का बाधक कैसे है ? उसके ऊपर जो हमने व्याप्ति दिखलाई थी कि (१) "यत्र यत्र सशरीरत्वं तत्र तत्र अल्पज्ञत्वम्" इसको आपने छुआ तक नहीं। इसी प्रकार हम और हेतु देते हैं—(२) "जैन तीर्थङ्कर अल्पज्ञ थे, एक देशी होने से रथ्या पुरुषवत्" (३) जैन तीर्थङ्कर सर्वज्ञ नहीं थे, अल्पज्ञ होने से देवदत्तादि-वत् (४) जैन तीर्थङ्कर सर्वज्ञ नहीं थे, जीव होने से अन्य जीववत् (५) जैन तीर्थङ्कर सर्वज्ञ नहीं थे, परस्पर विरुद्ध भाषी होने से) जैसा कि उनके भाषणों में विद्यमान है और जिनका दिग्दर्शन आगे इसी पत्र में कराया गया है) (६) जैन तीर्थङ्कर अल्पज्ञ थे, अयौक्तिकवाद करने से, साधारण पुरुषवत् (७) जैन तीर्थङ्कर अल्पज्ञ थे, आवरण सहित होने से (८) जैनतीर्थङ्कर अल्पज्ञ थे, शब्दात्मक आगम के आश्रय न होने से (९) जैन तीर्थङ्कर अल्पज्ञ थे, क्षुधा तृषादि युक्त होने से (१०) जैन तीर्थङ्कर अल्पज्ञ थे, मन वाले होने से (११) जैन तीर्थङ्कर अल्पज्ञ थे जीवात्मा होते हुए इन्द्रियों का विषय होने से (१२) जैन तीर्थङ्कर अल्पज्ञ थे, अल्पज्ञ स्वभाव होने से (१३) जैन तीर्थङ्कर अल्पज्ञ थे, अनादि अल्पज्ञ होने से

(१४) जैन तीर्थङ्कर अल्पज्ञ थे, अल्पज्ञों का प्रत्यक्ष विषय होने से (१५) जैन तीर्थङ्कर अल्पज्ञ थे, ऐतिहासिक पुरुष होने से (१६) जैन तीर्थङ्कर अल्पज्ञ थे, गर्भशायी होने से (१७) जैन तीर्थङ्कर अल्पज्ञ थे, अनेक जन्मा होने से (१८) जैन तीर्थङ्कर अल्पज्ञ थे, आयु वाले होने से (१९) जैन तीर्थङ्कर अल्पज्ञ थे, पराधीन होने से (२०) जैन तीर्थङ्कर अल्पज्ञ थे, काल विशेष में होने से, इत्यादि २ अनेक हेतुओं से उनकी अल्पज्ञता सिद्ध है। जैन समाज ने इस सर्वज्ञत्व को सिद्ध करने के स्थान पर अब दूसरे मार्ग का अवलम्बन किया। वह इतिहास के नाम से कुछ मिथ्या बातों का प्रगट करना। जैन समाज के पास अपने को प्राचीन सिद्ध करने के लिये ऐसे ही कपोल कल्पित आधार हैं, जिनका ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ भी मूल्य नहीं। ऐसी बातों से जैनधर्म को प्राचीन सिद्ध करना जैन समाज की बड़ी भूल है।

क्या जैनधर्म प्राचीन है ?

जैनधर्म को प्राचीन सिद्ध करने के लिये जैन समाज ने मोहनजी दारो का आश्रय लिया, परन्तु भारतीय पुरातत्व विभाग के सबसे बड़े उच्चाधिकारी, जिनपर गवर्नमैन्ट की ओर से पूर्ण उत्तरदायित्व है तथा दीर्घकालीन निरन्तर निरीक्षणों के अभ्यास से जिनका निर्णय अन्तिम निर्णय माना जाता है उनके लेख से जब यह सिद्ध कर दिया गया है कि मोहनीजो दारो में जो खोज हुई है वह शैव और शाक्त धर्म को प्राचीन

सिद्ध करती है, उसके विषय में जैन समाज का यह कहना कि अगस्त १९३२ के माडर्न रिव्यू में उस लेख का प्रतिवाद है, सफ़ेद झूठ है। प्रथम तो जान मार्शल के निर्णय का विरोध हो ही नहीं सकता और यदि किसी ग़ैर ज़िम्मेवार आदमी ने किसी ख़ास कारण से विरोध किया भी हो तो उसको जैन समाज जैसी सोसाइटी के सिवाय और कौन मूल्य दे सकता है? यही कारण है कि न तो जैन समाज उस लेखको प्रकाशित कर सकता है और न लेखक का नाम बतलाता है। तथाच हमारे पास के गंगा के जनवरी १९३३ ई० के पुरातत्वाङ्क में पृष्ठ ४८ से डा० नरेन्द्र नाथ लाहा M.A. Ph. D., P. R. S. का इसी सम्बन्धमें एक लेख छपा है जिसमें गवर्नमैन्टकी ओरसे निकली हुई मोहनजो दारो के सम्बन्ध की पुस्तक के आधार पर ही शैव और शाक्त धर्म को ही प्राचीन बतलाया है। इसी प्रकार इसी पुरातत्वाङ्क के पृष्ठ ६२ पर डा० लक्ष्मण स्वरूप M.A.D. Phil. (oxon) का लेख है, जिसमें उन्होंने वहां से प्राप्त वस्तुओं के फ़ोटो भी छापे हैं। इस विषय में उनके शब्द उद्धृत करते हैं—"परन्तु जो सबसे अद्भुत बात है वह है शिवकी पूजा; मोहनजो दारो में शिव जी की पूजा होती थी। बहुत से शिवलिङ्ग उपलब्ध हुए हैं। कितने ही शिवलिङ्ग तो वैसे ही हैं, जैसे कि आजकल भारत के बहुत से मन्दिरों में देखे जाते हैं। इससे सिद्ध है कि शिव की पूजा जिस प्रकार आजकल होती है उसी प्रकार ५००० वर्ष पहले भी होती थी। संसार के जितने भी

धर्म हैं उनमें से किसी भी धर्म की पूजा का इतिहास इतनी दूर तक नहीं पहुँचता, न किसी धर्म की पूजा के विषय में ऐसा स्पष्ट सिद्ध करने वाला साक्ष्य मिलता है"। इसी अङ्क में एक और लेख बाबू कामताप्रसाद जैन का है उसमें आपने वहां की प्राप्त मूर्तियों को "व्रात्य सम्प्रदाय" की बतलाया है और व्रात्य सम्प्रदाय को आपने जैन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। प्रतीत होता है इसी प्रकार का लेख माडर्न रिव्यू में भी होगा जिससे आपको या आपकी अंध श्रद्धालु मण्डली को उसपर विश्वास हो गया होगा। श्रीमान् जी इस प्रकार का मिथ्या प्रयत्न करके जनता को भ्रम में डालने की चेष्टा जैन समाज के लिये प्रशस्त नहीं है। आपका दावा है कि वे जैन मूर्तियां हैं। श्रीमान् जी आपके दावे के क्या कहने? आपका दावा तो चांद को सूरज से बड़ा और ऊपर भी बतलाता है। परन्तु इसको आपके सिवाय कौन बुद्धिमान मानेगा? इसलिये मोहन जो दारो के उदाहरण से जैनधर्म को प्राचीन बतलाना मिथ्या ही नहीं है अपितु जैनधर्म को हिंसक धर्म बतलाना है, क्योंकि वहां जो मूर्तियां मिली हैं उनसे पीपलादि वृक्षों के आगे पशु बलि चढ़ाना भी सिद्ध हो चुका है; तो क्या जैन धर्म भी पशु बलि का प्रचारक था? ऐसी चेष्टाएँ करने से पूर्व जैन समाज को चाहिये कि वहां की सम्पूर्ण घटनाओं का तो ज्ञान प्राप्त करले। इसी प्रकार का कार्य जैन समाज ने एक वेद मंत्र लिख कर किया है। जिस

समाज के विद्वानों ने न तो कभी वह मूल पुस्तक देखी हो और न उसके अर्थ पर विचार किया हो, वह भी इधर उधर से सुनी हुई बात को ख़ास शास्त्रार्थ के समय लिख दें तो इस साहस का क्या ठिकाना है? क्या जैनसमाज में कोई भी विद्वान ऐसा है जो वैदिक-व्याकरण, कोष, निघण्टु, ब्राह्मण आदि ग्रन्थों से ऋषभ का अर्थ आदिनाथ बतला सके--यदि हो तो सामने आवे। अगर इन पण्डितमान्यों ने अपने कोषों को भी देखा होता तो भी ऐसा दुःसाहस कभी न करते। देखो जैनाचार्य का लिखा विश्व लोचन कोष—"ऋषभ श्रेष्ठ, बैल, अष्ट-वर्ग की एक औषधि, गाने का स्वर, एक पर्वत, सूकर (सूअर) की पूंछ, कान का छिद्र"। मालूम नहीं इसमें आदिनाथ कहां छिपे बैठे हैं? श्रीमान् जी इससे तो यह सिद्ध होता है कि यह ऋषभ देव नामक तीर्थंकर की कल्पना 'विश्वलोचन' कोष से भी बाद की है। पहले आप इनको ऐतिहासिक पुरुष तो सिद्ध करें। इसी प्रकार 'व्रात्य' शब्द से जैनधर्म निकाला गया है, *जिसका खण्डन जैन विद्वान ही बड़ी ऊँची आवाज़ से कर रहे हैं।*

जैनशास्त्रों में विरोध

उत्तर पुराण पर्व ६८ श्लोक ९० से १२५ तक नारद का रावण के आगे सीता की प्रशंसा करना और रहने के लिये प्रेरित करना लिखा है; आगे श्लोक १९७ से २०८ तक में रावण की आज्ञा से मरीचि का हरिण बनना और राम का उसके

पीछे जाना और रावण का राम का रूप बनाकर सीता हरना लिखा है। तथा पद्म पुराण पर्व ४४ में खरदूषण से लक्ष्मण का युद्ध होना और रावण का खरदूषण की सहायता के लिये आना और सीता को देखकर मोहित होना तथा लक्ष्मण के स्वर में रावण का सिंहनाद करके लक्ष्मण पर आपत्ति की सूचना देना और राम का लक्ष्मण की सहायता के लिए जाना और पीछे से रावण का सीता हरना लिखा है। इन दोनों विरुद्ध बातों में से किसको सत्य माना जाए।

सीता का जन्म

उत्तर पुराण पर्व ६८ श्लोक १७ में सीता का जन्म मन्दोदरी से लिखा है और पद्मपुराण पर्व २६ में सीता का जन्म जनक की रानी से लिखा है।

बाली

उत्तर पुराण पर्व ६८ श्लोक २७० से २८० तक में सुग्रीव का रामचन्द्र के पास आना और बाली के अत्याचारों का वर्णन करना और सहायता के लिए कहना, और आगे श्लोक ४४० से ४४४ तक में लिखा है कि बाली का दूत रामचन्द्र के पास आया और हनुमान और सुग्रीव को निकाल देने को कहा। तथा आगे श्लोक ४६४—६५ में लिखा है कि लक्ष्मण ने बाली को मार कर सुग्रीव को राज्य दिया। तथा आपके दूसरे सर्वज्ञ भाषित पद्मपुराण पर्व ९ में लिखा है कि

के कर्ता स्वर्गीय पं० गोपालदास जी जैसे हमारे मान्य महापुरुष हैं —जिनके प्रत्येक शब्दों पर हमारा अधिकार है—उसी तरह आपके पं० दरबारीलाल जी हैं? आपने पं० नाथूराम जी प्रेमी को जैन समाज का प्रसिद्ध विद्वान लिखकर उनके व्याख्यान की ओर सङ्केत किया है। आपको मालूम होना चाहिये कि समाज के किसी एक व्यक्ति की धारणा उसी व्यक्ति की धारणा कहलाएगी, समाज की नहीं। अजमेर के शताब्दी महोत्सव में पं० विश्व बन्धु M.O.L. आचार्य श्रीमद्दयानन्द उपदेशक महाविद्यालय लाहौर की आवाज़ क्या आपकी आर्यसमाज मानने को तैयार है? धर्म परीक्षा और धूर्ताख्यान तथा पद्मपुराण एक ही समाज की भिन्न २ कृतियां है। मनुस्मृति, मिताक्षरा के श्लोकों को आचार ग्रन्थों में अपनाया गया है ऐसा आप लिखते हैं, इसका कुछ प्रमाण दीजिये और इसका भी क्या सबूत है कि मनुस्मृति की नक़ल आचार ग्रन्थों में की गई और आचार ग्रन्थों से मनुस्मृति में नहीं की गई? हम ऐसे अनेक प्रमाण उपस्थित कर सकते हैं कि जैन ग्रंथों से मोक्षमार्ग सम्बन्धी अनेक सिद्धान्त कल्याणकारी मानकर मनुस्मृति में अपनाए गए हैं—"सम्यग्दर्शन सम्पन्नः कर्मभिर्न निबद्धयते। दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते।" (देखो मनुस्मृति ६-७४) अर्थात् सम्यग्दृष्टि कभी कर्मबन्ध से नहीं बन्धता और जो दर्शन विहीन होता है वह सदैव संसार में घूमता है। महाशय जी दर्शन शब्द का आत्म निश्चिति अर्थ सिवाय जैन ग्रन्थों के अन्य

किसी भी साहित्य में नहीं पाया जाता है। "दशलाक्षणिको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः" (मनुस्मृति ६-९१-९२) में दश-लक्षण धर्म का वर्णन इस रूप में बतलाया जाता है कि चारों आश्रम वालों को दशलक्षण धर्म का पालन करना चाहिये। आपको मालूम होना चाहिये कि दशलक्षण धर्म की पूजा, व्रतानुष्ठान तथा इसका पर्व सिवाय जैन समाज के अन्यत्र कहीं नहीं माना जाता। जैनों का दशलाक्षणी पर्व संसार में प्रसिद्ध है। इसी तरह अन्य भी अनेक बातें वस्तु धर्म तथा आचार के सम्बन्ध में पाई जाती हैं (देखो मनुस्मृति ३—४—६)। अतः स्पष्ट है कि मनुस्मृतिकार ने ही जैनों के आचार की नक़ल की है। आप लिखते हैं कि हमने जैन जगत से सर्वज्ञ सिद्धि के हेतुओं की नक़ल की है, सो महाशय जी पं० दरबारीलाल जी ने जो हेतु लिखे हैं वे सब जैनाचार्यों के प्राचीन ग्रन्थों से लेकर विकृत रूप में लिखे गये हैं—पं० दरबारी लाल जी के दिमाग़ की उपज नहीं हैं—तथा हमने जो पांचों अनुमान उपस्थित किये हैं वे दरबारी लाल जी के लेखों में नहीं पाये जाते! हम आपको निमंत्रण देते हैं कि आप हमारे अनुमानों को दरबारी लाल जी के लेखों से प्रमाणित करें। हमने जैन तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता के सिद्ध करने के लिये पांच अनुमान दिये थे, आर्यसमाज इन अनुमानों का कुछ भी जवाब नहीं दे सका है। केवल यही कहकर टालना चाहता है कि जैनसमाज ने अपने इन अनुमानों को पांच अवयव सहित नहीं लिखा है।

हम तो इस बात का पहले ही निराकरण कर चुके हैं कि शास्त्रार्थ के समय उदाहरणादिक अनुमानादि का होना ज़रूरी नहीं, अतः आर्य समाज का हमारे अनुमानों के सम्बन्ध में आपत्ति उपस्थित करना व्यर्थ है। हां यदि आर्यसमाज की दृष्टि से शास्त्रार्थ के समय उदाहरणादिक अनिवार्य हैं तो उसको हमारे वक्तव्य का खण्डन और इसका मण्डन करना था, किन्तु आर्यसमाज ऐसा नहीं कर सका है, अतः उसका जैन अनुमानों के सम्बन्ध में आपत्ति करना व्यर्थ है। वह आर्यसमाज, जो दूसरों के लिये पंचावयवों को अनिवार्य बतलाता है और इनकी ग़ैर मौजूदगी में अनुमानों को अधूरा समझता है, क्या स्वयं अनुमान लिखते समय आंखों को पीछे लगा लेता है जिससे उसको अपने अनुमानों में यह बात नहीं दिखाई देती। आर्यसमाज ने आज जितने भी अनुमानाभास लिखे हैं उनमें से एक के भी पंचावयव नहीं लिखे, अतः इस दृष्टि से आर्यसमाज के सम्पूर्ण अनुमान अधूरे एवं कार्यकारी नहीं। दूसरी बात यह है कि आर्यसमाज के यह सब अनुमान अनुमानाभास हैं, क्योंकि इनके समर्थन में कोई युक्ति नहीं दी गई है। तीसरी बात यह है कि आर्यसमाज के इन साधनों में से आवरण रहित होने से, अयुक्तिक बात के कर्ता होने से, विरोधात्मक वचन होने से, शब्दात्मक आगम के आश्रय न होने से, भूख सहित होने से, मन सहित होने से, जीवात्मा होते हुए व्यावृत्त इन्द्रिय सहित होने से, पराधीन होने से, असिद्ध हैं क्योंकि जैन

सिद्धान्त जैनतीर्थङ्करों को ऐसा नहीं मानता। चौथी इन्हीं में से अल्पज्ञ होने से साधन साध्यसम है तथा इनका दो बार उल्लेख हुआ है अतः पुनरुक्त दोष भी है। पांचवीं बात यह है कि एक देशी होने से, जीव होने से, अल्पज्ञों का प्रत्यक्ष विषय होने से, ऐतिहासिक पुरुष होने से, पहली अवस्था की दृष्टि से अनेक जन्मों वाले होने से, आयुवाले होने से, काल विशेष में होने से और अनादि अल्पज्ञ होने से, इन बातों का वर्तमान सर्वज्ञता के साथ विरोध क्यों है? ऐसे महा पुरुष जो इस प्रकार से रह चुके हैं सर्वज्ञ क्यों नहीं हो सकते। छठी बात यह है कि अल्पज्ञत्व आदि का विशेष विवेचन हम पहले कर चुके हैं जिसका कि आर्यसमाज से कुछ भी जवाब नहीं बन सका है। इससे स्पष्ट है कि आर्यसमाज हमारे अनुमानों का खण्डन नहीं कर सका है और उसके अनुमान मिथ्या हैं। यदि आर्यसमाज ने हमारे पहले वक्तव्य को देखा होता तो वह ऐसा न लिखता, किन्तु आर्यसमाज ने तो वास्तविकता पर न जाने की प्रतिज्ञा ही करली है। और भी देखो—"ऋषयः संयतात्मनः फलमूलः नोला-सनः तपसैव प्रपश्यन्ते त्रैलोक्यं सचराचरं" (मनुस्मृति अध्याय ११ श्लोक ३६)। आपके स्वामी तुलसी दास जी ने इसका यह अर्थ किया है कि—"इन्द्रियों के जीतने वाले, कंदमूल फल के भोजन करने वाले ऋषि, तीनों लोकों के चर तथा अचर पदार्थों को तपसहित देखते हैं"। "तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजं" (योगदर्शन २—२५) इस पर व्यास भाष्य "इदं

अतीतानागत प्रत्यत्पन्न समुच्यातिन्द्रियं ग्रहणमल्पम् बहु इति तत् सर्वज्ञ बीजं, एतद्धि वर्द्धमानं यत् निरतिशयं स सर्वज्ञः अस्ति काष्टा प्राप्ति सर्वज्ञ बीजस्य सातिशयत्वात् परिमाणवत्" अर्थात भूत, भविष्यत वर्त्तमान व्यक्ति और समष्टि का थोड़ा बहुत ज्ञान सर्वज्ञता का बीज है, क्योंकि जहाँ यह बढ़ता हुआ हद को प्राप्त होता है वही सर्वज्ञ है। थोड़े बहुत की हद है। सातिशय होने से परिमाण की तरह सदा ज्ञान की हद है वह सर्वज्ञ है। "सह यो वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मुण्डक ३-२-६)। "वै ब्रह्म भवति या एव ब्रह्म" (वृहद् आरण्यक ४-४-२५)। "यः एवं वेद अहं ब्रह्मास्मिति इदं सर्वं भवति" (वृहद् आरण्यक १-४-१०)। "ब्रह्म विद् आप्नोति परमम्" (तैत्रेय २-१)। "यो अकामो निष्कामः, अप्राप्त कामो, न तस्य प्राणः उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" (वृहद० आ० ४--६) अर्थात् जो कि आत्म स्वरूप ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है। यही इन सब उल्लेखों का भाव है। ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप उपनिषदों में सर्वज्ञ माना है, अतः यह भी सर्वज्ञ हो जाता है और यह उसका निज रूप है। देखिये—"ज्ञो अतएव" (वेदान्त सूत्र २-३-१८) अर्थात् आत्मा ज्ञ स्वभाव है। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्यामन् सो अश्नुते सर्वान् कामान् सः ब्रह्मणः विपश्चतेति" (देखिये तैत्रेय २-१-१) अर्थात् सत्य अनन्त ज्ञान यह ब्रह्म है और यह अपनी आत्मा में छुपा हुआ है, जो इसको जानता

है वह ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। "अतो अनन्तेन यथाहि लिङ्गम्" (वेदान्त सूत्र ३-६-२६) अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा में अभेद को स्वाभाविक होने से और भेद को अविद्या कृत होने से, विद्या से अविद्या को दूर करके जीव अनन्त ज्ञानात्मक हो जाता है। इन सब प्रमाणों से प्रगट है कि जीवात्मा ही (जो कि किसी समय गर्भशायी रहा है, जिसको दूसरे लोगों ने इन्द्रियों द्वारा जाना है, जिसका स्थान एक देशीय रहा है, आदि आदि, वही) सर्वज्ञ हो जाता है, यह वैदिक साहित्य डङ्के की चोट प्रमाणित करता है। आर्यसमाज ने चतुर्थ पत्र में ऐतिहासिक घटनाओं के नाम से कुछ बातें लिखी थीं जिसका मुंह तोड़ जवाब उसको दे दिया गया था। उसमें से कुछ बातों पर तो आपने चुप्पी साधली और कुछ बातों को फिर उसी ढङ्ग से लिख मारा है; साथ ही साथ हमारे ऐतिहासिक ज्ञान पर भी बहुत कुछ जली कटी सुनाई गई हैं, किन्तु उसमें एक बात बहुत बेहूदी यह है कि लेखकों ने बाबू कामताप्रसाद जी को भी खरी खोटी सुना डाली हैं और उन्हें अर्थ का अनर्थकर डालने वाला लिखा है। जिस व्यक्ति का इस शास्त्रार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है उसका नाम लेकर उसे अर्थ का अनर्थ करने वाला लिखना आर्यसमाज की सभ्यता को कलङ्कित करता है। यहाँ का आर्यसमाज इतना ओछापन दिखला सकता है, इसका हमें स्वप्न में भी ख़याल नहीं था।

कल आपने पुलकेशी के मन्दिर के आधार पर एक

मिथ्या निष्कर्ष निकाला था कि इसकी रचना के पहिले चौवीस तीर्थंकरों की कल्पना नहीं थी, उसका मुंह तोड़ जवाव देने पर भी आज आप फिर भी वैसी ही भूल कर वैठे हैं। आप लिखते हैं कि ऋषभ देव नामक तीर्थंकर की कल्पना विश्वलोचन कोष के भी बाद की है। ज़रा ज़रा सी बातों के आधार पर मिथ्या कल्पना करने वाले इतिहासज्ञ महाशय जी आपकी दोनों बातों में से कौनसी सत्य है यह बतलावें। विश्वलोचन एक आधुनिक ग्रन्थ है। कल हमने हाथी गुफ़ा के शिलालेख के आधार पर आज से चौवीस सौ वर्ष पहिले भी आदिनाथ की पूजा का होना सिद्ध किया था, किन्तु फिर भी आप अपनी मिथ्या कल्पना करने से नहीं रुकते। इसके अतिरिक्त बौद्ध ग्रन्थ न्यायबिन्दु और धम्मपद और ऋग्वेद के अनेक प्रमाण दिये जा चुके हैं। आप लिखते हैं कि ऋषभ का अर्थ आदिनाथ किस व्याकरण के आधार से किया जाता है। महाशय जी ऋषभ का अर्थ आदिनाथ नहीं है किन्तु ये दोनों नाम जैनों के आदि तीर्थङ्कर के वाचक हैं। उनका मूल नाम ऋषभ था किंतु आदि तीर्थङ्कर होने के कारण उन्हें आदिनाथ भी कहते हैं। विश्वलोचनकार ने शब्दार्थ कोष बनाया है न कि ऐतिहासिक कोष। यदि ऋषभ का अर्थ ही देखना है तो पद्मचन्द्र कोष को देखिये। भारतीय चरिताम्बुधि के कर्ता ने भी ऋषभ का अर्थ जैनों के आदि तीर्थंकर लिखा है। इसके अतिरिक्त मोहनजो दारु के सम्बन्ध में जान मार्शल

का जो उल्लेख किया है वह मत अनेक विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया है। जान मार्शल ने कहीं पर ऐसा लिखा भी नहीं है कि यह चिन्ह जैनों के नहीं हैं। दूसरे वह इस समय में बतला भी नहीं सकते थे, क्योंकि उन्होंने भारत के समस्त साहित्य तथा समस्त सामाजिक नियमों का अध्ययन नहीं किया है। उन्हें भारतीय साहित्य का उतना ही ज्ञान था जितना विलसन और वेवर को। जब मोहनजो दारू से प्राप्त मूर्ती और सिक्के मौजूद हैं तब व्यर्थ का वितण्डा करने की क्या आवश्यकता है ? इन सिक्कों पर जो मूर्तियां अङ्कित हैं तथा अन्य पाषाण मूर्ति में यह बातें स्पष्ट रूप से पाई जाती हैं—नग्नता, कायोत्सर्ग आसन, ध्यानावस्था तथा बैल, गैंडे और सर्प आदि के चिन्ह विशेष हैं। और देखना यह है कि यह चारों बातें किस भारतीय मूर्ति में पाई जाती हैं, किस सम्प्रदाय के साहित्य में यह वर्णन पाया जाता है और किस सम्प्रदाय के अनुयाइयों में इन बातों का आदर तथा अनुसरण किया जाता है। यह चारों बातें जैन मूर्तियों, जैन सिद्धान्तों तथा जैन साधुओं में ज्यों की त्यों देखी जाती हैं। सिक्कों वा ब्राह्मी लिपी में जो शब्द अङ्कित हैं उनमें स्पष्ट जिनेश्वर शब्द का उल्लेख पाया जाता है। देखो हिस्टॉरीकैल क्वार्टर्ली १९३२। आज जो विद्वान जैन साहित्य, जैन मूर्ति निर्माण तथा जैनों के आचार विचार से परिचित हैं वे यही निष्कर्ष निकालते हैं कि ये जैन मूर्तियां हैं और आज से पांच हज़ार वर्ष पहिले सिंध प्रदेश में

न केवल जैनधर्म प्रचलित था अपितु जैनों का ही शासन था। इनही बातों को ध्यान में रखकर मिस्टर "चन्दा" ने माडर्न रिव्यू अगस्त १९३२ में लिखा है और यह निष्कर्ष निकाला है कि यह सिक्के और मूर्तियाँ जैन सम्प्रदाय की हैं। आपको साहस हो तो उक्त चारों बातों के सम्बन्ध में बतलावें कि वे जैन सम्प्रदाय के अतिरिक्त किस सम्प्रदाय में पाई जाती हैं और आपने जो लिखा है कि उन मूर्तियों के सामने पशु बलि होती थी सो यह किसका मन्तव्य है और आप किन किन आधारों पर ऐसा लिखते हैं और उन मूर्तियों का क्या नम्बर है। जैन-धर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध में हमें अब स्वयं प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु संसार के माननीय विद्वानों ने इसको अति प्राचीन माना है। देखो—(१) आचारांग सूत्र की डा० हर्मन जैकोबी लिखित प्रस्तावना (२) डा० एनी बीसेन्ट लिखित The Religious Problem in India (३) लोक-मान्य पं० बालगंगाधर तिलक का केसरी पत्र नं० १३ सन् १९०४ ई० (४) मि० दास गुप्ता M. A.Ph. D. लिखित History of Indian Philosphy पृष्ठ १६९।

अब विरोध के लिये हमारे माननीय शास्त्रों की सूची को देखो। अब रही हिरण्यगर्भ की कथा; चरम शरीरी, अतिशय वान सकल परमात्मा को ही हिरण्यगर्भ कहते हैं। उसका हिरण्य-गर्भ नाम इस वजह से पड़ता है कि उसके गर्भ अवतरण के समय हिरण्य की वृष्टि होती है। आपका वैदिक साहित्य भी

हिरण्यगर्भ शब्द की व्याख्या में इसी मन्तव्य का समर्थन करता है। देखो यजु० ३१-१९। ऋग्वेद १०-१२१। छान्दो० ३-१९-१। मनुस्मृति १-१२। इन तमाम प्रमाणों से सिद्ध है कि ब्रह्मा ने गर्भ धारण किया, एक वर्ष पर्यन्त गर्भ में रहा। अथर्ववेद १०-७-२८ से जिसका कि प्रमाण पहिले लिख चुके हैं सिद्ध है कि उस ब्रह्मा की उत्पत्ति से पहिले ही इन्द्र ने लोक में हिरण्य की वृष्टि की थी और इसीलिये लोक में उनका नाम हिरण्यगर्भ प्रसिद्ध हुआ। इन तमाम प्रमाणों से सिद्ध है कि जैन तीर्थङ्कर सर्वज्ञ हैं और जैनमत प्राचीन है।

ह० मुनिसुव्रतदास जैन,
प्रतिनिधि जैन समाज, पानीपत।

आर्यसमाज का उत्तरपत्र

[तारीख़ ११-११-३३—समय ८ बजे रात्रि]

हुई सूरत न कुछ उनकी शिफ़ा की।
दवा की मुद्दतों बरसों दुआ की॥

जैन समाज ने जो रास्ता अख़्तयार किया है वह अनुचित है। जब यह बात जैन समाज के ध्यान में लाई गई तो उचित तो यह था कि उस मार्ग को छोड़ देता, परन्तु 'सत्य अप्रिय होता है' ऐसा उल्टा हमको बताने लगा। इससे जैन समाज

ने यह तो सिद्ध कर दिया कि जैन समाज के विद्वान् सत्य को प्रिय शब्दों में प्रकट करने की योग्यता नहीं रखते। रह गया नकल का सवाल सो तो हमने बहुत से प्रमाण दे दिये थे। और मनुस्मृति से की गई नक़ल को तो आपने स्वयं प्रगट कर दिया, क्योंकि मनुस्मृति आपके धर्म से और आपके ग्रन्थ से बहुत प्राचीन सिद्ध हो चुकी है। इसलिये आपके ग्रन्थों से वहां कुछ बातें जाना तो असम्भव ही है। आपने जो पाँच बातें अनुमानाभास के रूप में लिखी हैं। उनके विषय में आप से कितनी ही बार प्रार्थना की गई कि आप उनको हेतु सिद्ध कर देवें। हमने हेतु के लक्षण भी आपको समझाने के लिये लिख दिये परन्तु आपने उसकी कोई परवाह नहीं की। करते भी कैसे जबकि जैन विद्वान् स्वयं उन बातों को हेतु के नाम से लिख कर लज्जित थे। हमारा फिर भी यह दावा है कि कोई भी जैन विद्वान् इन पांचों हेत्वाभासों को हेतु सिद्ध नहीं कर सकता। अगर किसी को साहस हो तो हम इसी पर शास्त्रार्थ समाप्त करते हैं और हमारा यह भी दावा है कि एक भी युक्ति या हेतु जैन तीर्थङ्करों को सर्वज्ञ सिद्ध करने के लिये जैनसमाज़ के पास नहीं है। हमने यह दिखलाने के लिये कि विना दृष्टान्त के लिखे हुये पञ्चम्यन्त शब्द हेतु नहीं कहला सकते, हमने अल्पज्ञता सिद्ध करने के लिये कुछ उदाहरण लिख दिये तो हमसे उदाहरण माँगते हैं, यद्यपि हमने रथ्या पुरुषवत्, देव-दत्तादि वत् आदि उदाहरण दिये हुये हैं, जिनकी अनुवृत्ति

सब हेतुओं में आ जाती है। जिस समय जैनसमाज कुछ लिखने लगता है तो वह आँखें बन्द करके क़लम चलाता है। इस लिये वार बार कहने पर भी उसकी समझ में बात नहीं आती और फिर वही सवाल जब उसपर आता है तब उसको कुछ होश आता है, पर पूर्व लेख फिर भी भूल जाता है। श्रीमान् जी, पूर्व आपने जिनको हेतुओं के नाम से लिखा है, वे सब साध्य होने से 'साध्यसम' हेत्वाभास और 'प्रकरणसम' हेत्वाभास आदि हम सिद्ध कर चुके हैं जिसका उत्तर आज तक न जैन समाज से बना न आगे बन सकेगा। रह गया मोहन जो दारो का प्रश्न, सो न तो जैन समाज ने वहां की निकली हुई वस्तुओं का निरीक्षण ही किया और ना ही उसे शैव शाक्तादि सम्प्रदायों के विषय में कुछ ज्ञान है। जब भारत वर्ष के सभी विद्वान् एक मत से वहां शैवधर्म का होना बतलाते हैं तो आपका किसी ग़ैर ज़िम्मेदार आदमी का लेख कैसे मान्य किया जा सकता है और वह भी अभी निश्चित नहीं कि माडर्नरिव्यू पत्र में किसी निष्पक्ष व्यक्ति ने ऐसा लिखा है, जैसा आप कहते हैं। क्योंकि आपका लेख सत्य होता तो आप हमें माडर्न रिव्यू का वह अङ्क तथा आपकी उल्लिखित न्याय विन्दु देने से क्यों घबराते? जैसा आपने इस सम्बन्ध में भ्रम फैलाया है वैसा ही इतर लेखों और पुस्तकों का हाल है। श्रीमान् जी मोहनजी दारो में शिवलिङ्ग सैकड़ों की संख्या में प्राप्त हुये हैं और देवी की मूर्तियाँ मिली हैं, जिनके हाथ में

सब तरह के हथियार हैं तथा बलि चढ़ाने के दृश्य भी मिले हैं। रह गये आपके चिन्ह, सो आप किसी शैव मंदिर में दर्शनार्थ चले जावें तो वे सम्पूर्ण साँप वृषभादि के चिन्ह प्रत्यक्ष देख सकेंगे। तथा वहां घरों में यज्ञशालायें भी मिली हैं। इन तमाम बातों से तमाम ऐतिहासिक विद्वानों ने यही सिद्ध किया है कि उस समय शैव और शाक्त धर्म था। आपने तो इन तमाम बातों की नक्ल दूसरों से की है। आपने पुनः ऋग्वेद यजुर्वेद के नाम हवाले लिख कर ऊटपटाङ्ग अर्थ कर दिये हैं। हमने आपसे अनेक बार प्रार्थना की कि आप अपने लेख में पूरा प्रमाण लिखकर पुनः उसके अर्थ किया करें और उसकी पुष्टि में प्रमाण दिया करें। परन्तु अफ़सोस है कि आपने हमारी प्रार्थना को स्वीकार न किया और मन माने अर्थ करके जनता को भ्रम में डालने का प्रयत्न करते हैं।

पञ्चास्तिकाय श्लोक १७१ में जैन तीर्थङ्करों को अल्पज्ञ लिखा है एवं तत्त्वार्थसार ८। १ में भी। तथा त्रिलोकसार श्लोक २०४ में जैन तीर्थङ्करों को अल्पज्ञ लिखा है। तथा मोक्ष शास्त्र अ० २ सूत्र ७ में जैनियों को अभव्य बतलाया है। हरिवंशपुराण सर्ग १३ में भी जैन तीर्थङ्करों को अल्पज्ञ बतलाया है। इसी तरह आदि पुराण पर्व ५ में जैन धर्म को नवीन धर्म बतलाया है। इसी तरह द्वादशाङ्ग वाणी में जयधवल, महाधवल, राजवार्तिक, श्लोक वार्तिक में है। कण्टकेनैव कण्टकम्।

सर्वज्ञों (?) की भविष्य वाणी !

सर्वज्ञों (?) के भविष्य विषय में हमने जो शङ्कायें की थीं उसपर जैनसमाज का कहना है कि जैन ग्रन्थ लुप्त हो गये। इस लिये कौन कह सकता है कि जैन ग्रन्थों में योरोपीय महासमर की भविष्य वाणी नहीं थी। ये हैं जैन समाज के प्रमाण जिन से अपने दावे को सिद्ध करना चाहता है। इन महापुरुषों को यदि मजिस्ट्रेट बना दिया जाय और किसी जैनी पर एक करोड़ रुपये का दावा कोई कर दे और सबूत में वह कह दे कि मेरे बहीखाते नहर में बह गये हैं, इस लिये यह कैसे कह सकता है कि मैं इससे रुपये नहीं मांगता? और ये महापुरुष इसी सबूत पर डिग्री दे देवें; तभी उस जैनी को इस सबूत की असलियत का पता लग जाय! आगे आप कहते हैं कि हमारे तीर्थङ्करों की भविष्य वाणी प्रत्यक्ष हो रही है जिसके लिये उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। प्रथम तो तीर्थङ्कर ही साध्य कोटि में हैं। थोड़ी सी देर के लिये इनको मान भी लें तो इन ग्रन्थों का तीर्थङ्कर रचित होना साध्य? और फिर उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी साध्य? क्योंकि तीन कोस की कोड़ी (चींटी) का होना किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं। आप तो वर्त्तमान काल को अवसर्पिणी बतलाते हैं और आपके परम मान्य डार्विन आदि उत्सर्पिणी बतलाते हैं। दूसरे ऐसी बातें बहुधा विविध नामों से सर्व मतों में प्रचलित हैं। फिर उनके

मान्य वक्ता भी सर्वज्ञ हुये। आज जो ज्योतिष का ज्ञान संसार को है वह आपके तीर्थङ्करों से बहुत पूर्व का है और वह आपके तीर्थङ्करों का बतलाया हुआ ज्ञान नहीं है। आपका ज्योतिष तो आज आपके जैन स्कूलों और कालेजों में ही इज़्ज़त नहीं पा सकता। रहगया युक्ति विरुद्ध का प्रश्न सो तो भगवन्! आपके सम्पूर्ण शास्त्रों में ऐसा कौनसा सिद्धान्त है जो युक्ति की कसौटी पर खरा उतर सके? आपके यहां सर्वज्ञ भगवान के सर्वाङ्ग से निरक्षरी वाणी खिरती है। इस निरक्षरी वाणी का अर्थ क्या है? यदि कहो कि उस वाणी में अक्षर नहीं होते तो वह वाणी कैसे कहलाई। यदि कहो कि प्रचलित अक्षर-चिन्ह नहीं होते तो ऐसी कौनसी भाषा है, उसका नाम बताओ। एक और सबसे बड़ा प्रश्न इसमें यह है कि निरक्षरी वाणी का अर्थ किसी ने कैसे समझा। उस निरक्षरी भाषा का पहिला अक्षर कौनसा समझा गया और वह क्योंकर समझा गया और वही क्यों समझा गया? अगर कहो गणधरों ने ऐसा समझा तो भी वे सब प्रश्न यथावत रहेंगे। दूसरी तरफ़ आप सर्वज्ञ की वाणी को अर्द्ध मागधी बतलाते हैं। जब इस भाषा में अक्षर ही नहीं थे तो अर्द्ध मागधी कैसे बन गई। दूसरे आपके यहाँ लिखा है कि उस भाषा को सम्पूर्ण प्राणी अपनी २ भाषा में समझ लेते थे। फिर भी यह अर्द्ध मागधी भाषा न रही और न निरक्षरी रही। और तीसरे इसको समझने के लिये गणधरों की ज़रूरत नहीं। इस प्रकार इस निरक्षरी भाषा पर जितना विचार

किया जाय उतना ही इसका खोखलापन प्रगट होता है। तथा इस उपदेश से आपके तीर्थङ्करों में राग द्वेष इच्छा आदि भी सिद्ध हो गये, क्योंकि एक देशी मनुष्य विना इच्छा के बोलने का प्रयत्न कैसे करे? आपके तोर्थङ्करों के मन और शरीर भी था और शरीर धर्म भी स्वाभाविक ही थे। आपने अपने पत्रों में बौद्ध ग्रन्थों के नाम से कुछ प्रमाणों का उल्लेख किया है, यह माडर्न रिव्यू के आपके संकेतित लेख और ऋग्वेद मंत्र के आपके कल्पित अर्थ के समान मिथ्या है। हमारा दावा है कि भगवान बुद्ध ने जैन तीर्थङ्करों को सर्वज्ञ नहीं कहा। आपके कल्पित सर्वज्ञ वाद में सबसे बड़ा दोष यह है कि इसका मानना जीवों का कर्म स्वातन्त्र्य छीन लेता है, जिसको हम युक्ति से सिद्ध कर चुके हैं। इससे आपका परमात्मा में वही दिखलाना भूल है, क्योंकि प्रथम तो इसमें 'मतानुज्ञा' निग्रहस्थान है, दूसरा अज्ञान निग्रह स्थान है, क्योंकि आपको हमारे सिद्धान्त का ज्ञान नहीं और बार २ स्पष्ट करने पर भी आप नहीं समझते, तीसरे 'निरनुयोज्यानुयोग' निग्रह स्थान। इस लिये प्रार्थना है कि सर्वज्ञता सिद्ध करने में कोई प्रमाण दें।

आदिनाथ

आदिपुराण पर्व बीस के आरम्भ में लिखा है कि जब भगवान अपनी तपस्या पूरी कर चुके और वे सर्वज्ञ बन गये तो उन्होंने साधु धर्म्म की मर्य्यादा के लिये भिक्षार्थ भ्रमण किया। आप मौनव्रत को धारण किये हुए थे। जब आप इस

प्रकार भ्रमण को निकले तो लोगों ने अनेक वस्तुएं अर्थात् रत्न ज़ेवर वस्त्र आदि आपकी सेवा में उपस्थित कीं। कइयों ने अपनी अपनी युवा लड़कियाँ भी विवाह के लिये पेश कीं, परन्तु भगवान ने उनको स्वीकार नहीं किया। इसी प्रकार भगवान छः महीने तक भ्रमण करते रहे, परन्तु आपकी इच्छा के अनुकूल कहीं भी भोजन प्राप्त न हो सका। इस प्रकार एक वर्ष तक अर्थात् छः महीने तो प्रथम तप की अवस्था में आपने भोजन नहीं किया और छः महीने तक विवशता के कारण अर्थात् न मिलने से भोजन नहीं किया। अब विचारणीय यह है यदि भगवान सर्वज्ञ होते तो पहिले से ही जान लेते कि भोजन प्राप्त नहीं होने का है। क्यों भोजन के लिये भ्रमण करते हो। इससे स्पष्ट है कि तीर्थङ्कर भविष्य को नहीं जानते थे। तथा इससे यह भी सिद्ध हो गया कि लोग भी उनको उस समय एक साधारण व्यक्ति समझते थे। आदि पुराण पर्व १८ में लिखा है कि जब आदिनाथ जी साधु हुए तो उनके साथ बहुत से अन्य राजे भी साधु हो गये। तथा सर्वज्ञदेव का पोता भी जिसका नाम मरीचि था साधु हो गया। परन्तु बाद में जाकर ये सब बिगड़ गये और इन्होंने अनेक मिथ्या मत प्रचलित किये। तथा भरत के पुत्र मरीचि ने सांख्य मत और वैदिक धर्म को चलाया। अब प्रश्न यह है कि ख़ास उनके शिष्य और उनका सगा पोता भी उनको सर्वज्ञ नहीं जानता था; तो आपने कौनसी दिव्य दृष्टि से उनको सर्वज्ञ जान

लिया और यदि मरीचि आदि उनको सर्वज्ञ जानते होते तो कभी भी उनके मत का विरोध न करते। बस यह सर्वज्ञ कल्पना अतीव नवीन और निराधार है। तथा एक प्रश्न और भी यहाँ उपस्थित होता है कि भगवान तो ब्राह्मणों के लिये ही कहते थे कि ये कलियुग में जैनधर्म के विरोधी हो जावेंगे। जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं। परन्तु यहां तो उनके जीते जी उनकी आंखों के आगे और वह भी उनके विशेष शिष्य तथा सगा पोता; फिर इस पर भी आनन्द इस बात का है कि सर्वज्ञ जी महाराज उनको समझा भी न सके और लोगों ने भी उन मरीचि आदि के धर्म को ही अधिक स्वीकार किया। बस यदि आपके यहाँ इसी प्रकार के अल्पज्ञ व्यक्तियों का नाम सर्वज्ञ हो तो हमें कोई आपत्ति नहीं।

भरत का सर्वज्ञ होना

आदि पुराण पर्व ३७ में भरत महाराज की विभूति का वर्णन है। उनके ९६००० तो स्त्रियाँ थीं, उनमें ३२००० स्त्रियाँ म्लेच्छ थीं; इन स्त्रियों का वर्णन सर्वज्ञ भगवान ने जिन शब्दों में किया उनको यहां लिखना व्यर्थ ही है। वास्तव में तो इन ग्रन्थों को सर्वज्ञ भाषित कहना उन पर अन्याय करना है। अस्तु यह भरत महाराज इन ९६००० स्त्रियों से इतने ही शरीर बनाकर……किया करता था। और भी इसकी अनेक प्रकार की सामग्री थी। आयुभर तो यह इसी प्रकार के बुरे कर्मों में लिप्त रहा, परन्तु अन्त में जाकर इसके मन में साधु होने

की आई। हरिवंश पुराण सर्ग १३ में लिखा है कि साधु होते २ ही उनको केवलज्ञान होगया। अब प्रश्न यह है कि एक मनुष्य ८३००००० लाख पूर्व वर्ष तो अत्यन्त विषय भोग करता रहे तथा अपने सगे भाई का राज्य भी छीन ले और अनेक युद्धों में असंख्य जीव हत्या भी करे और तुरंत ही सर्वज्ञ भी बन जावे; वह भी बालों में हाथ लगाते ही !! इतना सस्ता सर्वज्ञत्व और कहाँ प्राप्त हो सकता है। इसी प्रकार की अनेक कथाएं जैन शास्त्रों में आई हैं। एक और भी बात विचारणीय है, वह यह कि ये राजा लोग ही तीर्थङ्कर क्यों होते थे। क्या इस लिये कि ये अधिक धनवान होते थे अथवा ये लोग ग़रीब प्रजा का खून अधिक चूसते थे इसलिये ! क्या अन्य जाति के मनुष्यों के मल क्षय नहीं हो सकते थे ? क्या शूद्र जाति के लोग तीर्थङ्कर होने के कर्म नहीं कर सकते ? आप ज़रा लिखने की कृपा तो करें कि आपके इन भरत आदि ने कौनसा ऐसा तप किया था जिसको शूद्र नहीं कर सकता। यह दूसरी बात है कि वह बिचारा ग़रीब होने के कारण भरत जितने अथवा रावण जैसे अधिक भोग न भोग सके। इन सब बातों से तो यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि आपका धर्म पक्षपात का धर्म है। जिन ग्रन्थों को आप सर्वज्ञ भाषित कहते हो वे वास्तव में राजाओं ने या तो धन देकर लिखवाये हैं अथवा राजाओं को खुश करने के लिये लोगों ने लिखे हैं। जिस समय ये ग्रन्थ बने थे उस समय बिचारे शूद्र कहलाने वाले मनुष्यों को विवश होकर

मूर्ख रहना पड़ता था। इसलिये उनका जो अपमान आप लोग कर सके कर दिया। यदि इन ग्रन्थोंको कोई शूद्र बनाता तब आप देखते कि कौन कुल बड़ा होता है।

ह० सोहनलाल आर्य्य, मंत्री आर्यसमाज, पानीपत।

उसके विद्वान लेखक पदवियों के पात्र हैं। क्या महाशय जी न्याय शास्त्र की इसी ही योग्यता पर आपको अभिमान है और इसी ही से क्या जैन विद्वानों की योग्यता को जानना चाहते हैं। जिन लोगों को यह भी मालूम नहीं कि अनुमान के उदाहरण का क्या स्थान है और हेतु का क्या, वह किसी समाज के प्रतिनिधि बनकर शास्त्रार्थ करें यह उस समाज के मनोहर भविष्य के चिन्ह हैं। जबकि आर्यसमाज स्वयं यह नहीं समझता कि उसने हेतु दिये हैं या दृष्टान्त, उससे उनके समर्थन या प्रतिवादी द्वारा किये गये उनके खण्डन पर कुछ भी वक्तव्य की आशा करना, बालू से तेल निकालना है। अतः यह भी स्पष्ट है कि आर्य समाज की जैन तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता खण्डन की युक्तियां भी व्यर्थ एवं निराधार हैं। जैन तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता के खण्डन में अबकी बार आर्यसमाज ने दो युक्तियां और भी दी हैं—एक जैन शास्त्रोंकी और दूसरी जैनशास्त्रों के भविष्य की। जिन जैन शास्त्रों के जिन श्लोकों द्वारा आर्यसमाज ने जैन तीर्थङ्करों को असर्वज्ञ बतलाया है उनको यहां हम ज्यों का त्यों लिख देते हैं। पाठक गण इन उदाहरणों से आर्यसमाज के आक्षेपों की सत्यता का स्वयं निर्णय करलें—(१) "अर्हत्सिद्ध चैत्य प्रवचनभक्तः परेण नियमेन। यः करोति तपः कर्म स सुरलोकम् समादत्ते।" (पञ्चास्तिकाय श्लोक १७१) अर्थात् जो पुरुष उत्कृष्ट संयम के साथ अर्हन्त, सिद्ध, जिन बिम्ब, जिनागम की अनन्य भक्ति से संयुक्त तपस्या रूप कर्म करता है वह

सुरलोक को प्राप्त होता है। (२) "अनन्त केवल ज्योतिः प्रकाशित जगत्त्रयान्। प्रणिपत्य जिनान् मूर्ध्ना मोक्ष तत्वं प्ररूप्यते ॥" (तत्वार्थसार ८—१) अर्थात् मैं (शास्त्रकार) उन जिन भगवानों को जिन्होंने अपनी अनन्त सर्वज्ञता के प्रभाव से तीनों लोकों को जान लिया है प्रणाम करके मोक्ष तत्वकी विवेचना करता हूं। (३) "निरयचरो नास्ति हरिः बल चक्रिणौ तुरीय प्रभृति निःसृतः। तीर्थं चरमाङ्ग संयताः मिश्रत्रयं नास्ति नियमेन ॥" (त्रिलोकसार २०४) अर्थात् नरक से निकल कर जीव नारायण, बलभद्र, चक्रवर्ती नहीं होता और चौथी आदि पृथ्वी से निकलकर जीव तीर्थङ्कर नहीं होता, पांचवीं आदि पृथ्वी से निकलकर चरमशरीरी नहीं होता, छठी आदि पृथ्वी से निकल कर सकल संयमी नहीं होता, सातवीं पृथ्वी से निकल कर मिश्र त्रय अर्थात् मिश्र वा असंयत वा देश संयत नहीं होता। (४) "जीवभव्याभव्यत्वानिच" (मोक्ष शास्त्र २-७) अर्थात् जीव दो प्रकार के होते हैं—एक भव्य, दूसरे अभव्य। न मालूम आर्यसमाज को यह भ्रान्ति कैसे हो गई कि ये दो भेद जैनियों के हैं जबकि सूत्र में स्पष्ट जीव शब्द पड़ा हुआ है। (५) हरिवंश पुराण सर्ग १३ में भरत महाराज के पश्चात् प्रचलित होने वाले क्षत्रिय वंशों का वर्णन है; इसका जैन तीर्थङ्करों की असर्वज्ञता से कोई सम्बन्ध नहीं। (६) "आदि पुराण" पर्व ५ में श्री ऋषभ देव के पूर्व भवों का वर्णन करते हुए दशवें पूर्व भव का वर्णन है जबकि वहमहाबल नाम के क्षत्रिय राजा के रूप में

संसार में विद्यमान थे और उसमें स्पष्ट वर्णन है कि उनके मन्त्री स्वयंबुद्धि ने सुमेरु पर्वत पर तीर्थ यात्रा करते हुए आदित्य गति नाम वाले मुनि से महाबल के भविष्य भवों के सम्बन्ध में प्रश्न किये थे। उस समय उक्त मुनिराज ने मंत्री को बतलाया था कि महाबल राजा अब से दसवें भव में भरत क्षेत्र में कर्मभूमि के आदि में ऋषभदेव नाम वाले प्रथम तीर्थङ्कर होंगे। इस कथा से तो यह निष्कर्ष निकलता है कि जैन धर्म अनादि धर्म है और श्री ऋषभदेव आधुनिक कल्पके भरत क्षेत्र के प्रथम तीर्थङ्कर हैं। इनसे पहिले और कल्पों में इसी भरत क्षेत्र में और तीर्थङ्कर हो गए हैं। अब कहिये यह उदाहरण सर्वज्ञता के साधक हैं या असर्वज्ञता के और क्या जान बूझ कर आपने पब्लिक की आँखों में धूल झोंकने की कोशिश नहीं की है? द्वादशाङ्ग वाणी जयधवल, महाधवल इत्यादि महान ग्रन्थों के नाम लेकर तो आपने छोटा मुंह और बड़ी बात की है। पढ़ना और समझना तो दरकिनार रहा, आपको तो इन ग्रन्थों के दर्शन भी नसीब नहीं हुए हैं। क्या आप अपनी सचाई के लिए बतलायेंगे कि धवल, जयधवल व द्वादशाङ्ग वाणी के आपने कहां दर्शन किये और ये कितने श्लोक प्रमाण हैं। महाशय जी! यह कोई वैदिक साहित्य नहीं है, जिसमें परस्पर विरोधी कथन भरे पड़े हों। इसका तो एक एक वाक्य युक्तिपूर्ण है, जो आप किसी भी प्रमाण और नय से खण्डन नहीं कर सकते हैं। हमने इस मन्तव्य की पुष्टि में कि

हिरण्यगर्भ शब्द का अर्थ एक निराकार नित्य सर्व व्यापक परमात्मा नहीं है बल्कि चरम शरीरी अतिशयवान सकल परमात्मा है, आपके वैदिक साहित्य से अनेक उदाहरण दिये थे। आप उन उदाहरणों के हमारे द्वारा किये हुए अर्थों को मिथ्या बतलाते हैं। हम आपसे ललकार कर कहते हैं कि यदि हमारे अर्थ मिथ्या हैं तो आप ही निरुक्त, व्याकरण, ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर, जो वेदों के व्याख्या ग्रन्थ कहलाते हैं, हिरण्यगर्भ शब्द का अर्थ हमारे दिये हुए उदाहरणों में निराकार नित्य सर्वव्यापक परमात्मा सिद्ध कर दिखावें। अन्य तो क्या स्वयं वैदिक साहित्य ही सशरीरी सर्वज्ञता को सिद्ध करता है। फिर आपका युक्तियों के आधार पर सर्वज्ञता वाद के खण्डन करने का प्रयास नितान्त निरर्थक हो जाता है। दूसरी बात भविश्यवाणी की है—इसके सम्बन्ध में आर्यसमाज लिखता है कि जब भगवान ऋषभदेव सर्वज्ञ थे तब उन्होंने सर्वज्ञता से भी आहार न मिलने आदि को क्यों न जान लिया। आर्यसमाज को मालूम होना चाहिये कि जिस समय भगवान साधु धर्म की मर्यादा के लिए भिक्षार्थ गये थे, मौन थे आदि २। उस समय भगवान सर्वज्ञ नहीं हुए थे। अतः मूलं नास्ति कुतो शाखा के आधार से आर्यसमाज की यह आपत्ति भी निराधार है। क्या जैन सिद्धान्त के ज्ञान का दम भरने वाला आर्यसमाज हिम्मत कर सकता है कि वह आकर इस बात को प्रमाणित करे कि उस समय भगवान् सर्वज्ञ हो गए थे जब वह भिक्षार्थ गए थे।

भगवान् का आहारार्थ बाहर जाना और सुन्दर सुन्दर युवतियों के आकर्षण में न आना तो भगवान् के अखण्ड ब्रह्मचर्य का नमूना है। इसही प्रकार अमूल्य अमूल्य आभरणों की तरफ़ ध्यान भी न देना भगवान के आदर्श त्याग का जाज्वल्यमान प्रमाण है। भगवान के साधुजीवन के समय यदि जनता उनको सर्वज्ञ नहीं जानती थी तो यह एक प्राकृतिक बात है; अतः इससे उनकी बाद की सर्वज्ञता में क्या बट्टा आ सकता है? मरीचि की कथा भी आर्यसमाज के ऐसे ही अज्ञान का एक नमूना है। यदि आर्यसमाज ने जैन पुराणों का अध्ययन समझकर किया होता तो वह ऐसा कदापि न लिखता। भविष्य वाणी के सम्बन्ध में कथन करते हुए जैन शास्त्रों की उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी पर आपत्ति उपस्थित करके तो दूसरे के अपशकुन के लिये अपनी नाक कटाने वाली कहावत को चरितार्थ किया है। क्या आर्य-समाज भूल गया कि अवसर्पिणी पर बाधा उपस्थित करने से उसपर बाधा आवेगी या नहीं? ख़ैर यह तो एक भविष्य की बात है, किन्तु यह तो निश्चित् है कि इससे आर्यसमाज के मान्य सतयुग, द्वापर, त्रेता और कलयुग वाद की जड़ खुदती है जिससे कि आर्यसमाज सिद्धान्त हानि निग्रह स्थान का पात्र है। अतः जबकि वैदिक साहित्य अवसर्पिणीवाद का समर्थन करता है तब आर्य समाज की इसपर आपत्ति करना बिलकुल निरर्थक है। देखो ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पेज २१ व उपवेद चरक संहिता विमान स्थान अध्याय ३ और मनु-

स्मृति अध्याय १ श्लोक ८१ से ८६ तक, जिसमें यह बात स्पष्ट तौर से विवेचन की गई है कि सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलयुग में क्रमशः मनुष्यों की आयु, शरीर की लम्बाई चौड़ाई, आरोग्यता, धर्माचरण व शरीर बल घटते चले जाते हैं। मोहन जो दारू के सम्बन्ध में आपका लिखना कि वहां बहुत से शिवलिङ्ग भी मिले हैं इसका हमारे कथन से क्या सम्बन्ध है। हम यह नहीं कहते कि उस समय वहां शैव धर्म नहीं था। हमारा तो यह कहना है कि उस समय वहाँ जैनधर्म प्रचलित था, जैसाकि नग्न कायोत्सर्ग ध्यानारूढ़ उन मूर्तियों की आकृति से, जो मोहन जो दारु से निकली हैं, सिद्ध है। चूंकि ये मूर्तियां जैन सम्प्रदाय के अतिरिक्त न तो और किसी सम्प्रदाय में पूज-नीय हैं, नाहिं अन्य सिद्धान्तों में ऐसा विवेचन है और नाहिं अन्य सम्प्रदायावलम्बी इस प्रकार की ध्यानावस्था का अनुकरण करते हैं। यही बात वहां के सिक्कों से भी प्रगट है। हमारी इन युक्तियों का और इन युक्तियों के आधार पर प्रो० रामप्रसाद चन्दा जैसे विद्वानों के मन्तव्यों का आपने कोई निराकरण नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि आजसे पांच हज़ार वर्ष पूर्व सिंध देश में जैनधर्म प्रचलित था। जैन शास्त्रों के संबंध में हम लिख चुके हैं और फिर भी यहां बतलाए देते हैं कि हम उन्हीं शास्त्रों को एवं उनके अनुकूलों को ही प्रमाण मानते हैं जिनकी सूची हम दे चुके हैं। अतः सीता के जन्म के विरोध की बात हमपर लागू नहीं होती, क्योंकि हम पद्मपुराण को वहीं तक प्रमाण

मानते हैं जहांतक कि वह महापुराण के अनुकूल है। तीसरे गुण स्थान में मरण और जीव संख्या का तो विरोध ही नहीं। यदि शास्त्रकारों ने स्वतन्त्र दो बातों का प्रतिपादन किया होता तो यह कथन परस्पर विरोधात्मक हो सकता था। यहां तो एक मत बिना दूसरे के खण्डन के उपस्थित किया गया है। साथ ही यह भी साफ़ लिख दिया गया है कि यह वर्णन दो व्यक्तियों की स्मरण शक्ति के आधार से है। यदि विरोध मान भी लिया जाय तो यह मुनियों की स्मरण शक्ति पर ही प्रभाव रखता है न कि जैन तीर्थङ्करों के आदेश पर। अतः जैन शास्त्रों में विरोध की बात बिलकुल मिथ्या है। आर्यसमाज यदि अपने वेदों के उपदेश की बात को जानने की चेष्टा करता तो उसको जैन तीर्थङ्करों की वाणी के सम्बन्ध में भ्रान्ति न होती। देखो बृ० आ० उप० ५—२ में यह वर्णन है कि एक समय देव, असुर और मनुष्य तीनों मिलकर धर्मोपदेश सुनने के लिये प्रजापति के पास गए। प्रजापति ने उन सबको बादल गर्जना के समान द द द रूप वाणी द्वारा धर्मोपदेश दिया, जिसको वे अपनी अपनी भाषा में समझ गए। इस वाणी के महत्व का वर्णन करते हुए उपनिषद्कार कहते हैं, "तदेल देवैषा दैवी वाग नुवदति स्तनयितनुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति। तदेतत् त्रयं शिक्षेद्दयं दानं दया मिति" अर्थात् प्रजापति की यह दिव्य वाणी ऐसी ही है जो गरजते हुए बादल के समान द द द वाणी का उच्चारण करती है। इस केतीन भाव हैं—दमन करो,

दान दो और दया करो। इसी लिये दमन दान और दया तीन शिक्षा कही गई हैं। इस प्रमाण के अतिरिक्त और भी देखें—ऋग्वेद ८—८९ व ऋग्वेद १०—७१ व श्वे० उप० ४—१ व वृहदा० उप० १-१-१। ये सब बातें इसी बात का समर्थन करती हैं। वृहदा० उप० १-५-१८ में स्पष्ट लिखा है—"पृथिव्यै चैन मग्नेश्च दैवी वागा विशति, सा वै दैवी वाग्यया यद्य देव वदति तत्त भवति" अर्थात् इस पृथ्वी पर ही अग्नि (तप) के प्रभाव से यह दिव्य वाणी प्राप्त होती है, वह दिव्यवाणी ऐसी है कि जो जो यह बखान करती है वही २ (वस्तु का स्वरूप) होता है अर्थात् वह दिव्य वाणी समीचीन होती है। जब मेघ गर्जना के समान और हर एक भाषा में परिणत होने वाली समीचीन दिव्यवाणी का समर्थन स्वयं वैदिक साहित्य ही करता है तब आर्यसमाज का जैन तीर्थंकरों की दिव्यवाणी के सम्बन्ध में शङ्का उपस्थित करना कहाँ तक युक्ति सङ्गत है। आपने क्षत्रिय राजाओं के सम्बन्ध में यह शङ्का उठाकर कि वही तीर्थङ्कर क्यों होते हैं, अन्य वर्ण के क्यों नहीं होते, अपने वैदिक साहित्य की अनभिज्ञता का परिचय दिया है। यदि आप छा० उप० ५-३ और वृ० उपनिषद् ६—२ में प्रवाहन राजा का और छा० उप० ५—११—१२ में अश्वपति राजा के आख्यान पढ़ लेते तो आपको पता चल जाता कि ब्रह्म विद्या के ज्ञाता सदा क्षत्री रहे हैं। क्षत्रियों के अतिरिक्त अन्य वर्ण वाले कभी भी ब्रह्म विद्या के अधिकारी नहीं हुए। वृहद० उप० १-४-११ में स्पष्ट वर्णन है

कि "तस्मात् क्षत्रात्परं नास्ति तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्ता दुपास्ते राजसूयो क्षत्र एव तद्यशो दधाति, सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद् ब्रह्म" अर्थात् क्षत्री से कोई बड़ा नहीं है, ब्राह्मण भी उसके नीचे बैठ कर उसकी उपासना करता है। अतः स्पष्ट है कि सर्वज्ञ तीर्थङ्कर बनने की योग्यता क्षत्रियों में ही है। चूंकि जैन तीर्थङ्कर भी क्षत्रिय थे, इसलिये वह तप द्वारा आवरणों का नाश कर सर्वज्ञ हो गये।

ह० मुनिसुव्रतदास जैन,
प्रतिनिधि जैन समाज, पानीपत।

आर्यसमाज का उत्तरपत्र

[तारीख़ १२-११-२३—समय १२ बजे दोपहर]

तीर्थङ्कर-कल्पना

अभी तक ऐतिहासिकों ने जितनी खोज की है उससे यह सिद्ध नहीं होता कि जैनधर्म प्राचीन धर्म है। अनेक विद्वानों में यह भी मत भेद है कि जैनधर्म स्वतंत्र धर्म है या बौद्धों की शाखा। जैन सिद्धान्तानुसार उत्सर्पिणी के तीसरे आरे में और अवसर्पिणी के चौथे आरे में २४—२४ तीर्थङ्कर होते हैं। इन सब का जन्म, तथा जीवन एक नियमित रूप से मानो सांचे में

ढला हुआ है। जिन थोड़े से अतिशयों का वर्णन हमने पूर्व किया है वे सब के सब हूबहू प्रत्येक तीर्थङ्कर में होना माना जाता है। प्रथम तो यह २४ की संख्या ही अपनी कल्पना को स्वयं सिद्ध करती है, क्योंकि एक नियत समय में २४ ही तीर्थङ्कर हों और सबके जीवनमें एकसी ही घटनायें हों, यह किस प्रकार माना जा सकता है ? विशेषतः उस अवस्था में जबकि जैनी लोग किसी भी चेतन सत्ता को सृष्टि का नियन्ता नहीं मानते, तो इस जड़ प्रकृति को इस उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल का किस प्रकार ज्ञान हो जाता है ? पुनः २४ की संख्या का उसको ज्ञान कैसे होता है ? पुनः उस जड़ प्रकृति को यह ज्ञान कैसे हो जाता है कि ये तीर्थङ्कर भगवान हैं, इसका शरीर वैसा ही बनाओ जैसा पूर्व तीर्थङ्करों का बनाया था ? विशेष आश्चर्य तो उन लोगों की बुद्धि पर होता है जो इस २४ की संख्या तथा इस प्रकार के जीवन को वैज्ञानिक सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। यह कहते समय उनको इतना भी ज्ञान नहीं रहता कि हम यह कह कर अपने सिद्धान्त की हानि कर रहे हैं। दूसरी बात यह कि यह २४ की संख्या प्रचलित अनेक मतों में इसी तरह वर्तमान है। बस यदि, जैनधर्म की यह मान्यता वैज्ञानिक है तो अन्य मत वालों की क्यों नहीं ? जबकि अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर के सिवाय कोई भी ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध नहीं हुआ है, जबकि १०—१० हज़ार वर्ष पहिले के खण्डरात व लेख मिल चुके हैं जिनमें जैनधर्म

का नाम तक नहीं प्राप्त हुआ तो शेष तीर्थङ्करों के कल्पित होने में सन्देह ही क्या है ? रह गए भगवान महावीर। उनके जन्म और निर्वाण आदि के विषय में भी ऐतिहासिकों में इतना मत-भेद है कि किसकी बात पर विश्वास किया जाए—यह निश्चय करना कठिनतर है। जैन ग्रन्थों में भी परस्पर इतना मतभेद है कि वास्तविकता का निश्चय करना बुद्धिगम्य नहीं है, जिसका दिग्दर्शन हम करा चुके हैं। कोई भी विचारवान मनुष्य यह मानने के लिये तैयार न होगा कि छः लाख मील लम्बा हाथी विहार प्रान्त के एक छोटे से ग्राम में आवे और वह किसी को दीखे भी नहीं। इन कल्पना करने वालों ने इतना विचार भी नहीं किया कि हम इतना बड़ा हाथी एक छोटे से ग्राम में ले जा रहे हैं; यदि इस हाथी ने वहाँ जाकर पेशाब कर दिया तो उस ग्राम की और उस ग्राम वालों की जिसमें भगवान महावीर का जन्म हुआ है क्या अवस्था होगी ? सबसे बड़ा आनन्द तो इस बात का है कि करोड़ों देवता विमानों में बैठ २ कर स्वर्ग से उनकी सेवा में आए, फिर भी उस समय के मनुष्यों ने भगवान महावीर को अलौकिक पुरुष नहीं माना और नाहिं उनके कहने पर विश्वास लाये और नाहिं इतिहास इस बात की साक्षी देता है कि ऐसा कोई महापुरुष हुआ जिसको देखने के लिये करोड़ों देवता स्वर्ग से विमानों में बैठ २ कर आते थे और उनकी सेवा करते थे। जैन समाज ने जिन अङ्गरेज़ों के नाम अपने पक्ष की पुष्टि में भेजे हैं वे लोग भी इस

बात को स्वीकार करने के लिये तय्यार नहीं। नाहिं जैनसमाज के परम मान्य मि० चन्दा ने माडर्न रिव्यू में ऐसा लेख निकाला है। पुनः यह कैसे माना जाए कि जैनधर्म के तीर्थङ्कर भगवान् महावीर कोई व्यक्ति विशेष हुए हैं। महावीरादि को व्यक्ति विशेष सिद्ध करने के लिये जैन समाज ने कुछ प्रमाणाभास दिये हैं, परन्तु दिये हुए उन प्रमाणों में न तो यह लिखा है कि इनके जन्म से छः महीने पहिले ही से इन्द्र इनके घरों में नित्यशः रत्न वर्षा करता था और नाहिं उन देवाङ्गनाओं का वर्णन है जो भगवान की माता की सेवा करने को आई थीं और न उस विशालकाय हाथी का और न करोड़ों देवताओं का, न अन्य अतिशयों का जिनका वर्णन हम पहिले कर चुके हैं। पुनः जैन समाज ने जो प्रमाण दिये हैं उनसे उनके तीर्थङ्करों का जब जीवन ही नहीं मिलता तो प्रमाण में दिये हुए ऐतिहासिक पुरुषों को तीर्थङ्कर बतलाना आश्चर्य ही है। क्या नाम मात्र मिलता है, इसलिये आपकी बात पर विश्वास करलें? यदि ऐसा है तब तो आज भी वर्धमान, महावीर, पार्श्वनाथ, ऋषभ देव, नेमिनाथ नाम के हज़ारों व्यक्ति हैं; उस समय भी होंगे। पुनः यह भी सम्भव है कि आपके तीर्थङ्करों के माता पिता आदि के जो नाम थे, वे अन्य व्यक्ति के भी हों। ऐसी सूरत में यदि कहीं बौद्धों के ग्रन्थों में या इतर ऐतिहासिक पुस्तकों में अथवा पुराणादि में महावीर आदि का नाम आजाता है तो उससे आपके तीर्थङ्करों की सिद्धि कैसे हो गई? आपको प्रमाण देने

के लिये आवश्यक है कि आप तमाम अतिशयों से युक्त व्यक्ति विशेष का ऐतिहासिक प्रमाण दें। जब तक आप ऐसा न करेंगे तब तक तीर्थङ्करों को ऐतिहासिक पुरुष सिद्ध करना दुराग्रह मात्र है। कभी आप योग के प्रमाण से यह सिद्ध करते हैं कि योगियों में ऐसी शक्ति हो जाती है; इसके लिये कभी आप उपनिषद् का प्रमाण देते हैं। प्रथम तो इन प्रमाणों के आपने जो अर्थ किये हैं वे ही ग़लत हैं और यदि आप ही के अर्थ मानलें तो भी आपके सिद्धान्त की पुष्टि कैसे हो गई? क्योंकि वहाँ तो आप योगियों के अतिशय बतलाते हैं, परन्तु आपके यहां तो जन्मते ही बालक के वे अतिशय हैं, पुनः वहां मल मूत्र कम होना लिखा है, परन्तु आपके यहां तो अत्यन्ताभाव है। इन सब बातों को भी छोड़दें, तो भी आपके तीर्थङ्कर सर्वज्ञ कैसे सिद्ध हो जाते हैं? यदि आप कहें कि वहां योगियों की सर्वज्ञता लिखी है तो हम इसका उत्तर पूर्व दे चुके हैं कि वहां सर्वज्ञ का अर्थ हमारा पूर्वोल्लिखित अर्थ है, आपका कपोल कल्पित अर्थ नहीं। इस लिये आप किसी भी प्रमाण से अपने सर्वज्ञों की सिद्धि नहीं कर सके। जब तीर्थङ्कर भगवान व्यक्ति विशेष ही सिद्ध नहीं होते हैं तो उनकी सर्वज्ञता का प्रश्न ही क्या? जहाँ यह २४ की संख्या इनको कल्पित सिद्ध करती है वहां एक प्रश्न यह भी है कि ये तीर्थङ्कर भगवान् आर्य खण्ड में ही क्यों जन्म लेते हैं? उनको तो म्लेच्छ खण्ड में अधिक जन्म लेना चाहिये, क्योंकि वहां पापी अधिक बसते होंगे—वहां सुधार

करना आवश्यकहै। फिर जिस प्रकार आपका दावा है कि हमारे तीर्थङ्कर सर्वज्ञ थे, उसी प्रकार बौद्धों का एवं आजीवक मत वालों का है और पौराणिक तो अपने राम कृष्ण आदि अवतारों को साक्षात् परमात्मा मानते ही हैं। फिर आपका ही दावा सत्य है, यह कैसे माना जाए जबकि आपके पास कोई युक्ति है ही नहीं। यदि कहो कि हमने हेतु दिये हैं तो आप ही की तरह दूसरे भी इसी प्रकार के शब्दों को हेतु का रूप देकर लिखते हैं तो फिर आपही की बातको हेतु माना जाए उनकी बात को नहीं इसका क्या कारण? ऋषभ देव की सिद्धि के लिये जो मंत्र दिया था, उसमें ऋषभ शब्द का अर्थ, जो यहां पर बैल वाचक है, आपने अपना तीर्थङ्कर आदिनाथ कैसे समझ लिया जबकि प्राचीन कोषों में जैनाचार्यों ने भी ऋषभ शब्द के अर्थ आदिनाथ नहीं लिखे। आपने उसके उत्तर में पद्मचन्द्र कोश का नाम ले दिया, जिसके प्रकाशक एक जैन भाई हैं और जो अभी अनुमान १० वर्ष का बना है। उसमें भी ऋषभ शब्द के अर्थ बैल, औषधि, एक मुनि आदि आपके अर्थ के अलावा लिखे हैं। अब आप यह सिद्ध करें कि उसमें ऋषभ शब्द आपके ही तीर्थङ्कर का वाचक है। और जब वहाँ पर स्पष्ट ही 'गवां पतिः' शब्द उसके विशेषण रूप में पड़ा हुआ है जिसके अर्थ बैल के ही हो सकते हैं। असल में तो जैन समाज को अपने को प्राचीन सिद्ध करने की एक धुन सवार हो गई है और जब उसकी मिथ्या कल्पना के लिये कोई प्रमाण नहीं मिलता

तो वह इधर उधर हाथ पैर मारने का प्रयत्न करता है, परन्तु इस मिथ्या प्रयत्न से जैनधर्म को प्राचीनता तो क्या सिद्ध होती अपितु विद्वत्परिषद् में हास्य का पात्र और बन जाता है। जैन समाज के विचार शील पुरुषों का कर्तव्य है कि वे जैन समाज को हठ और दुराग्रह से बचावें। एक विचित्र हेतु आपने यह दिया है कि 'जैन तीर्थङ्कर सर्वज्ञ थे शब्द रूप आगम का दूसरा आश्रय न होने से'—इसके अन्दर आपने जो तर्क लिखी है वह भी तदनुकूल है। आपका कथन है कि "आर्यसमाज का परमात्मा अशरीरी और सर्व व्यापक होने से शब्द रूप आगम का प्रतिपादक नहीं होसकता"। दूसरे आपने लिखा है कि "शब्द की उत्पत्ति संयोग और विभाग से होती है; परमात्मा में संयोग विभाग दोनों सम्भव नहीं हैं, इसलिये उससे शब्द रूप आगम का प्रतिपादन नहीं हो सकता"—"शब्द रूप आगम का कारण सर्व व्यापक नहीं हो सकता"—मालूम नहीं आपको किसने बहका दिया? आकाश सर्व व्यापक होते हुए भी शब्दोत्पत्ति में कारण है, फिर परमात्मा के लिये यह बाधा हो, इसका क्या प्रमाण? परन्तु हम तो आपको सन्तुष्ट करने के लिये आपही की बात मान लेते हैं, परन्तु आपसे इतनी प्रार्थना करते हैं कि आपने इसके लिये अपने तीर्थङ्करों का ही नाम क्यों लिया? इतना ही लिख देते कि पानीपत जैनसमाज सर्वज्ञ है शब्दात्मक आगम का दूसरा आश्रय न होने से। बस ज़रासा लिखने मात्र से ही तो सर्वज्ञता प्राप्त होती

थी, ऐसे मौक़ को जैनसमाज ने हाथ से खो दिया, यह कौनसी बुद्धिमानी की ? फिर आपके मान्य तीर्थङ्कर तो शब्दात्मक आगम का प्रतिपादन कर ही नहीं सकते, क्योंकि उनमें इच्छा आदि का आप नितान्त अभाव मानते हैं और बिना इच्छा के शब्दात्मक आगम प्रतिपादित नहीं हो सकता। इसलिये न तो इस आगम का आश्रय आपके भगवान तीर्थङ्कर हो सकते हैं और न आपके कथनानुसार सर्वव्यापक ईश्वर हो सकता है। तीसरा कोई आश्रय आप तथा आर्यसमाज मानने को तय्यार नहीं। अतः पानीपत की जैन समाज अथ च उसके न्यायाचार्य विद्वान सर्वज्ञ हैं शब्दात्मक आगम का अन्याश्रय न होने से !!! इच्छा तो होती है कि इन तमाम हेतुओं का सम्पूर्ण भाषाओं में अनुवाद करवा कर संसार के किसी अद्भुतालय में रख दिया जाए। आपने एक हेतु यह दिया था कि जैन तीर्थङ्कर सर्वज्ञ हैं आवरण रहित होने से। हमने जो इसमें साध्यसम आदि दोष दिखलाये थे, उनका आपने कोई प्रतीकार नहीं किया। जब यह सिद्ध ही नहीं हुआ कि उनके आवरण दूर हो गए थे, तो पुनः इस साध्य को साधन कैसे बनाया जा सकता है। फिर एक आश्चर्य की बात यह भी है कि ये आवरण दूर राजकुमारों के ही क्यों होते हैं—तो इसपर आपने एक दो उपनिषद् के प्रमाण दे दिये, जिसमें लिखा हुआ है कि पूर्व समय में ब्रह्म विद्या के ज्ञाता क्षत्रिय थे। प्रथम तो उस से यह कैसे सिद्ध होता है कि हमेशा राजकुमार ही तीर्थङ्कर

बनेंगे ? फिर यह कैसे सिद्ध हो गया कि वह जैन तीर्थंकर ही बनेंगे। श्रीमान् जी ! इन्हीं तर्काभासों से बौद्ध लोग भी अपने तीर्थंकरों को सर्वज्ञ सिद्ध करते हैं और आजीवक भी ऐसा ही कहते हैं ! पुनः आपकी बात मानी जाय, इसमें क्या हेतु ? तथा जैन समाज के प्रति जो हमने युक्तियाँ दी थीं, वह उन युक्तियों का खण्डन न कर सका; इसलिए यह सिद्ध हो गया कि जैन तीर्थङ्कर अल्पज्ञ थे, सर्वज्ञ नहीं ! मोहन जो दारो के विषय में फिर आपने लिखने का कष्ट किया है। सो भगवन् ! आपके हठ की पराकाष्ठा है। वहां एक भी मूर्ति ऐसी नहीं निकली जिससे जैन धर्म का अस्तित्व सिद्ध हो सके, न सिक्कों पर कोई ऐसा चिन्ह हैं, नाहि किसी विद्वान् ने ऐसा माना है। यदि १९३२ के अगस्त के माडर्न रिव्यू का प्रमाण जो आपने पब्लिक की आंखों में धूल झोंकने के लिये घड़ा है उसको मान भी लें तो जनवरी सन् १९३३ के गंगा के पुरातत्वाङ्क में उसका सब विद्वानों ने खण्डन कर दिया। जबकि गवर्नमैंट इस विषय में निश्चित् रिपोर्ट निकाल चुकी और सर जान मार्शल इसका अन्तिम फ़ैसला दे चुके हैं तो आपके बेसुरा राग अलापने से तो मुंह में मक्खियाँ पड़ेंगी और जनता हंसेगी सो अलग। इस प्रकाश के ज़माने में भी आप इस प्रकार का अन्धेर मचाना चाहते हैं, यह भूल है। जैनसमाज ने अपने पत्रों में अनेक वेद मंत्रों के हवाले देकर उनके ऊट पटांग अर्थ किये थे, जिनके विषय में हमने अनेक बार प्रार्थना की कि आप इस प्रकार के

घृणित उपायों से अपनी सर्वज्ञ-सिद्धि का साधन न बनावें, परन्तु जैन समाज ने उस पर ध्यान तक न दिया तो हमें भी विवश होकर उनके पीछे चलना पड़ा। अब आप लिखते हैं कि क्या आपने जान बूझकर पब्लिक की आंखों में धूल झोंकने की कोशिश नहीं की है? सो श्रीमान् जी, यदि पब्लिक में आप ही जैसे बुद्धिमान हों तो दूसरी बात है। अन्यथा हमने स्वयं ही "कण्टकेनैवकण्टकम्" का सङ्केत कर दिया था। इस लिये पब्लिक की आँख में तो नहीं, जैनसमाज की आँख में ज़रूर धूल झोंकी है, क्योंकि बार बार मना करने पर भी वह वेदों के नाम से पब्लिक की आँख में धूल झोंकता रहा। अब उसकी आँख में धूल पड़ने से मालूम हुआ कि इसका क्या फल होता है। आगे आप लिखते हैं कि द्वादशाङ्ग वाणी, जयधवल, महाधवल आदि महान ग्रन्थों के नाम लेकर आपने छोटा मुंह बड़ी बात की है। मालूम नहीं जब वेदादि के नाम से ऊट पटांग लिख रहे थे उस समय जैनसमाज को यह ध्यान क्यों नहीं आया कि हम छोटे मुंह बड़ी बात कर रहे हैं। फिर आप हमसे द्वादशांग वाणी के दर्शन कहां किये उसका पता पूछते हैं—सो तो महाराज! पानीपत के मन्दिर जी में ही विराजमान हैं!!! जिसका पता आर्यसमाज के उत्सव पर शङ्का समाधान के लिये पधारे हुए पानीपत जैन समाज के महा पण्डितों ने दिया था। पुनः आप कहते हैं कि वैदिक साहित्य में सशरीर सर्वज्ञ का वर्णन है। हम भी कहते हैं कि है, परन्तु हम जो सर्वज्ञ का अर्थ कर चुके

हैं उसी अर्थ में है; आपके कल्पित अर्थ में नहीं। आगे आपने उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी को सतयुग आदि का रूपान्तर मान लिया है। भगवन् ! आपने बातें तो सारी मान ली हैं, परन्तु मानते हैं टेढ़ी तरह। मैंने तो अवसर्पिणी का खण्डन उनके मत से किया था जिनके विज्ञान का आप बड़ा अभिमान करते हैं।

जैन शास्त्रों का विरोध

जैन शास्त्रों के विरोध के विषय में आप लिखते हैं कि हम उन्हीं शास्त्रों को प्रमाण मानते हैं जिनकी सूची दे चुके हैं, उनके विरुद्ध होने से पद्मपुराण प्रामाणिक नहीं है। श्रीमान् जी, हम आपसे यही लिखवाना चाहते थे, क्योंकि दूसरी जगह जैनसमाज और आर्यसमाज से लिखित शास्त्रार्थ हो चुका है जिसमें आपके यहां आये हुए विद्वानों ने ही पद्मपुराण को प्रमाण मान कर उत्तर दिया था। अब आपने यह सिद्ध कर दिया कि वह उत्तर झूठा था। इसके लिये हम आप के कृतज्ञ हैं। रही दूसरे विरोधों की बात–उसके विषय में आपने लिखा है कि यह तो मुनियों की स्मरण शक्ति का दोष है। सो श्रीमान् जी, पद्मपुराण और उत्तरपुराण में भी तो मुनियों के स्मरण दोष से ही ऐसा हुआ है। पुनः उनमें से एक को प्रमाण मान लिया और इन दोनों विरोधों का प्रमाण कैसे मान लिया ? पुनः जब दो मुनि परस्पर विरुद्ध बतलाते हैं तो सर्वज्ञ की वाणी कौनसी है इसका आपने कैसे निश्चय किया ? बस, सर्वज्ञ

की वाणी न होने से आपके वे सम्पूर्ण शास्त्र मिथ्या सिद्ध हो गए, क्योंकि इनमें मुनियों की स्मरण शक्ति का दोप भी विद्यमान है। इन दोप युक्त शास्त्रों को मानकर आप कैसे मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। तथा इनके आधार पर कैसे जैन तीर्थङ्करों को सर्वज्ञ सिद्ध कर सकते हो? क्योंकि सम्भव है कि जिन गाथाओं में जैन तीर्थंकरों को सर्वज्ञ लिखा है, सम्भव है कि मुनियों की स्मरण शक्ति के दोप के कारण लिखा गया हो। अर्थात् अल्पज्ञ की जगह उन्होंने सर्वज्ञ स्मरण कर लिया हो। बस, जिस प्रकार किसी का वहीखाता एक स्थान पर झूठा सिद्ध हो चुका, तो पुनः उनके वहीखाते पर कोई विचारवान मनुष्य विश्वास नहीं कर सकता। इसी तरह जब आपके शास्त्र मिथ्या सिद्ध हो चुके तो पुनः आप इन पर विश्वास करके क्यों अपना समय नष्ट कर रहे हैं? कुछ विरोध और देखिये—नक्षत्रों की ऊंचाई में विरोध—सनातन जैन ग्रंथमाला काशी मुद्रित राजवार्तिक पृष्ठ १५६ और हरिवंश पुराण सर्ग ६ तथा सर्वार्थ सिद्धि पृष्ठ १४० में विरोध—क्रमशः चन्द्र पटल से ऊपर नक्षत्र पटल ३ योजन, दूसरा ४ योजन; उससे ऊपर बुध के विमान ३ यो० दूसरा ४ योजन; श्लोकवार्तिककार इन सब से निराली बात कहते हैं। एवम् गोम्मटसार क'कांड गाथा २६३ तथा २६४ में वृपभाचार्य और भूतबलि का परस्पर विरोध है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ६२१ में तीन सर्वज्ञों का परस्पर विरोध बतलाया है। इसी

प्रकार गाथा ६२८ में भी; तथा स्त्री मुक्ति का वर्णन; इस प्रकार प्रत्येक विषय में परस्पर विरोध भरे पड़े हैं। आगे आपने निरक्षरी वाणी को सिद्ध करने के लिये उपनिषद् का उदाहरण दे दिया, सो श्रीमान् जी वहां तो द-द-द- तीनों अक्षर हैं, उनको आपने निरक्षरी कैसे कह दिया? क्या आप 'द' को अक्षर नहीं मानते? पता नहीं ऐसी बातों से आप अपना पक्ष कैसे सिद्ध करते हैं?

ह० सोहनलाल आर्य्य, मंत्री आर्यसमाज, पानीपत।

---

[८]

जैनसमाज का पत्र

[तारीख़ १२-११-३३—समय ४ बजे सायंकाल]

सदाक़त का हर इक आलम में शोहरा हो ही जाता है।
जो सुनता और समझता है वह शैदा हो ही जाता है॥

आर्यसमाज ने अपने कल के पत्र में अनेक जैन शास्त्रों के नाम से यह बतलाने की चेष्टा की थी कि जैन शास्त्र ही जैन तीर्थंकरों की सर्वज्ञता का विरोध करते हैं। इसके उत्तर स्वरूप हमने उन उन शास्त्रों के उन उन श्लोकों को लिखकर आर्य समाज के इस कथन का खण्डन किया था तथा आर्यसमाज से पूछा था कि क्या आर्यसमाज यह बतला सकता है कि उसने जैनियों के द्वाशाङ्ग एवं जयधवल और महाधवल के दर्शन कहाँ किये हैं। इसपर आर्यसमाज लिखता है कि जैनियों ने अनेक वेदमन्त्रों के उलटे अर्थ किये थे; अतः उसने भी जैन शास्त्रों के नाम से ऐसा लिख मारा। आर्यसमाज ने यहां "कटकेन कंटकं" अर्थात् कांटे से कांटे को वाली कहावत को भी लिखा है और कहता है कि उसने झूठ का जवाब झूठ लिखा

है। जहां तक आर्यसमाज के इस साहस का संबन्ध है हम उस को धन्यवाद दिये विना नहीं रह सकते। साथ ही साथ यह भी निवेदन कर देते हैं कि आर्यसमाज को जैनियों के वैदिक प्रमाणों के सम्बन्ध में निराधार भ्रान्ति हो गई है। जैनसमाज धार्मिक विचार में मिथ्या प्रमाणों को उपस्थित करना घृणित कार्य समझता है। यदि आर्यसमाज को हमारे प्रमाण मिथ्या प्रतीत हो ही रहे थे तो उसका कर्तव्य था कि वह उनका वैदिक व्याकरण, कोश और ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार से हमारी तरह उन का खण्डन करता, किन्तु आर्यसमाज ने अब तक भी ऐसा नहीं किया। यद्यपि आर्यसमाज के लिये इस प्रकार की नीति का रखना कोई नवीन बात नहीं है, क्योंकि स्वयं स्वामी दयानन्द जी ने ही निम्नलिखित वाक्य लिखकर इस नीति का आदर्श स्थापित किया है—"अब इसमें विचारना चाहिये कि जो जीव ब्रह्म की एकता जगत शङ्कराचार्य का निज मत था तो वह अच्छा मत नहीं और जो जैनियों के खण्डन के लिये उस मत को स्वीकार किया हो तो कुछ अच्छा है" (सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ २९४)। फिर भी यदि आर्यसमाज की ऐसी ही नीति रही तो सभ्य समाज को उसके वचन से विश्वास ही उठ जायगा। आशा है कि आर्यसमाज इस पर ध्यान देगा। अतः प्रगट है कि जैन शास्त्र जैन तीर्थंकरों की सर्वज्ञता ही प्रमाणित करते हैं। आर्यसमाज को दूसरा धन्यवाद हम उसके इस साहस पर देंगे जो कि उसने सशरीरी सर्वज्ञ का होना स्वीकार करने में दिख-

लाया है। इससे यह तो सिद्ध हुआ कि जैन तीर्थंकरों की सर्वज्ञता के खण्डन में दिये गए आर्यसमाज के सशरीरत्व, एकदेशीय गर्भशायी, ऐतिहासिक पुरुष और अल्पज्ञों का प्रत्यक्ष विषय होना और काल विशेष में होने से आदि बीसों अनुमान मिथ्या हैं क्योंकि जब कोई दूसरा व्यक्ति इन सब बातों सहित होने पर भी सर्वज्ञ हो सकता है तो जैन तीर्थंकर ही क्यों नहीं हो सकते। इससे यह भी निरधारित हुआ कि आर्यसमाज के जैन तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता खण्डन के हेतु स्वयं उसके ही वचन से मिथ्या हैं। अब रह जाता है कि आया सर्वज्ञता का वास्तविक अर्थ त्रिलोक और त्रिकाल के संपूर्ण पदार्थों का ज्ञान है या विशेषज्ञ मात्र। आर्यसमाज ने दूसरे अर्थ के समर्थन में एक भी युक्ति उपस्थित नहीं की; अतः सर्वज्ञता का दूसरा अर्थ बिलकुल निराधार है। दूसरी बात यह है कि आर्यसमाज को दूसरा अर्थ करने में सिद्धान्त हानि निग्रह स्थान मिलता है। आर्यसमाज के किसी भी माननीय पुरुष ने सर्वज्ञता का अर्थ विशेषज्ञ नहीं किया है। सत्यार्थ प्रकाश में भी स्वामी दयानन्द जी ने जहां जहां सर्वज्ञता का वर्णन किया है वहां वहां केवल त्रिकाल और त्रिलोक के संपूर्ण पदार्थों के ज्ञान के ही आधार से। तीसरी बात यह है कि सर्वज्ञ का अर्थ कोषों में भी त्रिकाल और त्रिलोकज्ञ किया है (देखो संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, अमरकोष, शब्दार्थ चिन्तामणि, शब्द कल्पद्रुम आदि कोश)। चौथी बात यह है कि योगदर्शन का

वही प्रकरण जिसके द्वारा आर्यसमाज ने सशरीर सर्वज्ञ को माना है, सर्वज्ञ का अर्थ त्रिकाल और त्रिलोकज्ञ प्रमाणित करता है—यह साफ़ साफ़ लिखा है कि जिस प्रकार परिमाण बढ़ कर अन्त दर्जे का आकाश में है, उस ही प्रकार का ज्ञान। इससे प्रगट है कि जिस प्रकार परिमाण बीच दर्जे का नहीं है उसी प्रकार ज्ञान। पाँचवीं बात यह है कि योगदर्शन के अन्य सूत्र भी इसका समर्थन करते हैं—"तदा सर्वावर्ण मलो पेतस्य ज्ञानस्य आनन्त्याज् ज्ञेयमल्पम्" (योगदर्शन ४-३१)। इस पर व्यास भाष्य "ज्ञानस्य आनन्त्याज् ज्ञेयमल्पं सम्पद्यते,यथा आकाशे खद्योतः" अर्थात् जब संपूर्ण आवरणों का नाश हो जाता है उस समय *ज्ञान अनन्त होजाता है और ज्ञेय थोड़ा रह जाता है*। भाष्यकार व्यास जी ने तो इस अन्तर की उपमा आकाश और खद्योत के परिमाण से दी है। इसके अतिरिक्त जिन उपनिषदों के उदाहरण देचुके हैं वे भी ऐसा ही सिद्ध करते हैं। इन सब बातों के आधार से प्रगट है कि सर्वज्ञता का अर्थ त्रिलोक और त्रिकाल का ज्ञान है। आर्यसमाज ने हमारे जैन तीर्थंकरों की सर्वज्ञता सिद्धि के अनुमानों के संबन्ध में पहिली आपत्ति तो आश्रयासिद्ध की उपस्थित की है। आर्यसमाज का कहना है कि भगवान महावीर और भगवान ऋषभदेव का अस्तित्व ही असिद्ध है, इसके सम्बन्ध में यहां हम इतना ही लिख देना आवश्यक समझते हैं कि आर्यसमाज का भगवान महावीर आदि के अस्तित्व में विवाद करना सिद्धान्त हानि

निग्रह स्थान का पात्र बनना है, क्यों कि आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द जी ने भगवान महावीर और भगवान ऋषभदेव के अस्तित्व को स्वीकार किया है (देखो भगवान महावीर के लिये सत्यार्थप्रकाश के मौजूदा संस्करणों का द्वादश समुल्लास और भगवान ऋषभ के लिये सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण का १२ वाँ समुल्लास)। क्या जिस बात को स्वामी दया-नन्द जी स्वीकार कर चुके हैं उस पर भी आर्य समाज को शङ्का है? दूसरी बात यह है कि जिसको इतिहास का साधा-रण भी ज्ञान है वह भी ऐसी शङ्का नहीं कर सकता; किन्तु क्या किया जाय, यहां तो ऐसे महात्माओं से सम्बन्ध हुआ है जो स्वयं तो इतिहास को जानते नहीं और बनते हैं अद्वितीय ऐतिहासज्ञ। यही कारण है जो आर्यसमाज लिखता है कि 'दश दश हज़ार वर्ष के खण्डहर मिलते हैं' और 'अब भी जैन धर्म को बौद्ध धर्म की शाखा समझते हैं'। धन्य है महाराज! आपकी ऐतिहासिक विद्वत्ता को। ज़रा देखिये मथुरा के जैन स्तूप को, जिसका समय अनुमान २८०० वर्ष है और जिसके आधार से माननीय विद्वानों ने लिखा है। डा० जैकोबी लिखते हैं—That Parshwa was a Historical person is now admitted by all. (S. B. E. XLV Int. Page XXI) अर्थात् भगवान पार्श्वनाथ ऐतिहासिक पुरुष हैं, यह एक सर्व मान्य बात है। इसके सम्बन्ध में यदि विशेष जानना हो तो Homes worth History of the World भाग २ पृष्ठ ११९२,

Indian Antiqueri Book IX Page 163. Encyclopedia of Religion ethics भाग २ Page 199 देखें। निम्नलिखित कोशों को भी देखने का कष्ट उठावें—हिन्दी विश्व कोश कलकत्ता, हिन्दी शब्द सागर कोश काशी, संस्कृत हिन्दी कोश मेरठ, शब्द कल्पद्रुम और शब्दार्थ चिन्तामणि कोश। इन सब में ऋषभ को आदि जिन तीर्थंकर बतलाया गया है। वैदिक और बौद्ध प्रमाणों को हम पहिले ही लिख चुके हैं जो कि भगवान ऋषभदेव आदि के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं। इससे प्रगट है कि जैन तीर्थङ्करों का अस्तित्व एक ऐतिहासिक घटना है। इनके अस्तित्व में एक बात यह भी है कि आर्यसमाज पानीपत भी इनको स्वयं ऐतिहासिक पुरुष मान चुका है। अभी दूसरे ही दिन की बात है जब आर्यसमाज ने लिखा था कि जैनतीर्थंकर सर्वज्ञ नहीं हैं, ऐतिहासिक पुरुष होने से। तो क्या आर्यसमाज ने अपना हेतु जान बूझ कर झूठा-दिया था ? यदि नहीं तो क्या यही उसकी स्मरण शक्ति है जो वह अपनी लिखी इस बात को दो दिन में ही भूल गया। क्या आर्यसमाज स्वामी कर्मानन्द जी के "विकाश" वाले लेख को भूल गया है जिसमें उन्हों ने भगवान महावीर और भगवान ऋषभदेव को जैन तीर्थङ्कर स्वीकार किया है। स्वामी जी के शब्द हैं "जैन धर्म के आदि प्रवर्तक श्री आदिनाथ" (विकाश का समाज अङ्क वर्ष १ अङ्क ८)। इन सब बातों से प्रगट है कि जैन तीर्थंकरों का अस्तित्व ऐतिहासिक अस्तित्व है, अतः

इस ही आधार से हमारे साधनों को आश्रयासिद्ध बतलाना मिथ्या है। आर्यसमाज ने एक आपत्ति हमारे "शब्दात्मक आगम का साक्षात प्रतिपादन का दूसरा आश्रय न होने से" साधन पर दी है। आर्य समाज कहता है कि जैसे आकाश से शब्द पैदा होजाते हैं और इसके लिये आकाश को न तो संयोग की आवश्यक्ता है और न वियोग की। आर्यसमाज के लेखक यदि दार्शनिक होते तो इससे न वे अपने समय और शक्ति को व्यर्थ व्यय करते और न हमारा कराते। आर्यसमाज को मालूम होना चाहिये कि वैदिक दर्शनों ने आकाश को समवायी कारण माना है। अतः वह संयोग और वियोग के विना भी शब्द रूप कार्य का कारण हो सकता है, किन्तु यह बात ईश्वर के सम्बन्ध में नहीं घटती। ईश्वर शब्द का समवायी कारण नहीं, यह तो कल्पित निमित्त कारण है; अतः इसमें संयोग और वियोग भी अनिवार्य है। वैशेपिक दर्शन का प्रमाण हम पहिले ही लिख चुके हैं। तुम्हारे ईश्वर में संयोग और वियोग की संभावना नहीं, अतः प्रगट है कि यह शब्द रूप आगम का प्रतिपादक नहीं हो सकता। अन्य कोई नवीन आपत्ति हमारे साधनों पर आर्यसमाज ने उपस्थित नहीं की तथा हम अपने साधनों का समर्थन कर ही चुके हैं। इस से सिद्ध है कि हमारे साधन जैन तीर्थंकरों की सर्वज्ञता को सिद्ध करते हैं। आर्यसमाज ने एक बात यह भी लिखी है कि जिस प्रकार इन अनुमानों से जैन तीर्थङ्करों को सर्वज्ञ सिद्ध किया जासकता है उस ही प्रकार

पानीपत की जैनसमाज, न्यायाचार्य जैन विद्वान और श्री रामचन्द्रजी आदि को इनके द्वारा सर्वज्ञ क्यों नहीं सिद्ध किया जा सकता। आर्यसमाज के इन आक्षेपों का समाधान हम पहिले ही कर चुके हैं--हमने लिख दिया है कि साध्य को अबाधित होना चाहिये; वह बात जो बाधित है साध्य नहीं हो सकती; पानीपत की जैनसमाज और न्यायाचार्य जैन विद्वानों की सर्वज्ञता बाधित है; साधारण से साधारण व्यक्ति इस बात को जानता है कि यह लोग बात को स्मरण करते हैं, लिखकर याद रखते हैं, ज्ञेय के स्थान पर जाकर उसको जानते हैं, और पढ़ते हैं, आदि बातें इनमें मिलती हैं जिनसे इनकी अल्पज्ञता बिल्कुल स्पष्ट है; यही बात अन्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में है। श्री रामचन्द्रजी की अन्तिम अवस्था में जैन लोग उनको भी सर्वज्ञ मानते हैं। दूसरी बात यह है कि इनकी सर्वज्ञता तो स्वयं आर्यसमाज ने भी नहीं मानी; अतः वह उनके सम्बन्ध में आपत्ति भी कैसे उपस्थित कर सकता है। आर्यसमाजका तो यही कार्य था कि वह या तो अपने परमात्माको शब्द रूप आगम का प्रतिपादक सिद्ध करता या हमारे अनुमानों में बाधा उपस्थित करता, किन्तु वह दोनों में से एक कार्य को भी नहीं कर सका है। सत्प्रतिपक्ष, असाधारणानैकान्तिक और आश्रयासिद्ध दोषों के निराकरण तो हम पहिले ही अति विषदता के साथ कर आए हैं। जैन शास्त्रकारों ने अपने अपने स्मरण के अनुसार वीर वाणी को सुरक्षित रक्खा और जहां उनके स्मरण में अन्तर हुआ,

वह भी उन्हों ने लिख दिया । स्मरण भेद का यह अर्थ नहीं कि एक स्मरण दूसरे स्मरण को मिथ्या बतलाता है या अपने को ही सच्चा बतलाता है। विरोध वहां हुआ करता है जहां कि एक कथन अपने को सत्य और दूसरों को मिथ्या, इस ही प्रकार दूसरा अपने को यथार्थ और पहले को मिथ्या बतलाता है वहां विरोध हुआ करता है । वे ही दो वस्तु जो एक स्थान पर नहीं रहतीं, विरोधी हैं। ये सब जैन शास्त्रों के इन कथनों में लागू नहीं होता। जैन आचार्य अपने ही स्मरण को सच्चा और दूसरों को मिथ्या ही नहीं बतलाते, वह तो कहते हैं कि दो प्रकार की स्मरण परम्परा है। जो अबाधित जंचे उसे मानना चाहिये। इस प्रकार के स्मरणभेद से जैन शास्त्रों की अप्रमाणिक बात का प्रश्न भी नहीं, क्योंकि इस प्रकार के स्मरण भेद एक आदि विषय के सम्बन्ध में हैं। दूसरी बात यह है कि इससे तो उनकी सत्यप्रियता ही प्रमाणित होती है। इससे प्रगट है कि जैनाचार्यों ने वीर स्वामी की परम्परा को सुरक्षित रखने में अपने मानापमान का विचार नहीं किया; यदि ऐसा किया होता तो वे स्मरण भेद का उल्लेख क्यों करते ? इससे यही स्पष्ट है कि यह तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता को भी नहीं खंडित करती, क्योंकि इस स्मरण भेद का संबंध केवल आचार्यों तक ही है। अतः आचार्यों का स्मरण भेद तीर्थङ्करों का प्रतिपादन भेद नहीं। कर्मकाण्ड गोम्मटसार २६३-२६४ में इस ही प्रकार का स्मरण भेद है। कर्मकाण्ड गाथा ६२५-६२८ में कोई

स्मरण भेद भी नहीं। स्त्री मुक्ति के सम्बन्ध में भी दिगम्बर सम्प्रदाय के शास्त्रों में कोई विरोध नहीं। यही हालत अन्य शास्त्रों की है। इससे प्रगट है कि जैन शास्त्रों में परस्पर विरोधी वचन नहीं। आर्यसमाज का यह लिखना कि वेसुरा राग आलापने से तो "मुंह में मक्खियां पड़ेंगी", अवश्य सत्य है किन्तु देखना यह है कि किसके मुख को ऐसा सौभाग्य मिलता है। अनेक बार घटनात्मक बातों के उल्लेख करने पर भी आर्यसमाज बार बार केवल ऐसे ही शब्द दोहरा देता है, क्या यह वेसुरा राग नहीं है। यदि मोहन जी दारू के सम्बन्ध में सन्देह है तो तीन सौ रुपये खर्च करके पुस्तकें मंगाकर देखलें। यदि खर्च करने की भी हिम्मत न हो तो अपने डा० प्राणनाथ जी काशी से ही मंगाकर देखलें या उनसे पूछ ही लीजिए कि मोहनजी दारू की खुदाई में जैन चिन्ह निकले हैं या नहीं। फिर आपको स्वयं ही अपने वेसुरे रागकी हक़ीक़त मालूम होजायगी। जैन तीर्थंकरों के आवरणाभाव को हम उनकी निर्दोषता और निर्दोषता को मोक्ष और उसका कारण, इस ही प्रकार संसार और उसके कारण के अनेक उपदेश के अबाधित होने से सिद्ध कर चुके हैं, जिसमें आपने कोई बाधा नहीं दिखाई है; अतः यह भी सत्य बात है। यही बात इच्छा रहित होने पर उपदेश देने के सम्बन्ध में है। इच्छा का बचन के साथ कार्य कारण भाव नहीं; अतः जब तक आप बचन और इच्छा की व्याप्ति सिद्ध न करदें यह शङ्का निर्मूल है। भगवान के जन्म समय

जो इन्द्र ऐरावत पर आता है, वह ऐरावत वैक्रियक हाथी है। ऐसा हाथी नहीं जैसा मनुष्य लोक में देखते हैं। वह तो एक देव का हाथी के आकार में बढ़ा हुआ शरीर है। देवता अपने शरीर को जन्मसिद्ध ऋद्धि के द्वारा ऐसा करते हैं। क्या आर्य समाज भूल गया है कि उसके मान्य योगदर्शनकार ने इस प्रकार की ऋद्धियों का होना स्वीकार किया है (देखो योगदर्शन ३-४-५) "ततो अनुमादि इत्यादि" अर्थात् पृथिवी में बैठे हुए उंगली के अग्रभाग से चन्द्रमा को स्पर्श करना, बड़ा शरीर होने पर अति हलका होकर आकाश में विहार करना आदि। साथ ही आपके योगदर्शनकार ने बड़ी स्पष्टता के साथ देवों में इस प्रकार की सिद्धियों को जन्म से माना है। आर्यसमाज का यह कहना कि योगदर्शन के अनुसार ऋद्धियां केवल तप से होती हैं, मिथ्या है (योगदर्शन ४-१)। ऐरावत हाथी के, देव की विक्रया रूप होने से, मल मूत्र की भी संभावना नहीं। साथ ही आपको यह भी याद रखना चाहिये कि यह हाथी ज़मीन पर नहीं आता (देखो मुनिसुव्रत काव्य)। आपका वैदिक साहित्य भी ऐरावत के अस्तित्व से खाली नहीं है (देखो गीता १०-२७)। कोश भी इसका समर्थन करते हैं (देखो आप्टे का संस्कृत इंग्लिश कोश)। अन्य जातियों के सम्बन्ध में आर्य समाज का लिखना है कि जैनसमाज इनको जन्म से घटाता है जबकि योगदर्शन तपस्या से; अतः योगदर्शन प्रमाण में नहीं आ सकता, मिथ्या है। योगदर्शन भी ऋद्धियों को जन्म और

तप दोनों से मानता है; देखो "जन्मौपधिमंत्र तपस्समाधिजः सिद्धयः" (योगदर्शन ४-१) अर्थात् सिद्धियां जन्म, औषधि, मंत्र, तप और समाधि से होती हैं। यही मान्यता जैनियों की है। कुछ अतिशय जन्म के हैं और कुछ केवलज्ञान के। अतः योगदर्शन को प्रमाण में उपस्थित किया जाता है। इससे प्रगट है कि आर्यसमाज की अतिशयों वाली बाधा भी मिथ्या है। तीर्थंकरों की मल मूत्र की बाधा के अभाव में हमने आपको आपके ही मान्य ग्रंथ "श्वेता० २-१३" का प्रमाण दिया था। आपका लिखना कि बिल्कुल अभाव नहीं हो जाता किन्तु कमी हो जाती है, ठीक नहीं। योगियों की पहली अवस्था में ऐसा हो सकता है तो उत्कृष्ट बिल्कुल अभाव में क्या बाधा हो सकती है? तीर्थङ्करों की बाणी निरक्षरी होती है, इसका भाव भाषा विशेष का न होना है—ऐसी भाषा का होना है जिसको सब श्रोता अपनी २ भाषा में समझ सकें। यही द् द् द् द् रूप प्रजा पति की वाणी में है, जिसका प्रमाण दे चुके हैं। अतः वाणी सम्बन्धी बाधा भी निराधार है। जिस प्रकार देवता अपनी शक्ति के द्वारा अपना शरीर बड़ा छोटा और अनेक प्रकार का बना लेते हैं उसी प्रकार की शक्ति भरत महाराज में जन्म से ही थी। अतः वह भी अपने अनेक शरीर बना लेते थे। देखो ऋग्वेद रूपं रूपं मघवा इत्यादि ३-३-२०-३०। इस पर निरुक्तकार ने लिखा है "यद् यद्रूपं काम्यते तद् तद् देवता भवति" (निरुक्त आ० १०-ख १८) अर्थात्

देवता जैसा २ शरीर बनाना चाहता है बना लेता है। इससे प्रगट है कि भरत महाराज के विषय भोग को कल्पित बतलाना मिथ्या है। भरत महाराज कर्म योगी थे, उनकी परिस्थिति संसार में जल में कमल की तरह थी; अतः भोगों में रहने पर भी वे उनसे अलिप्त थे। इससे उनकी शीघ्र-मुक्ति की बाधा भी निराधार है। देखो गीता ९-२८ अर्थात् कर्मयोगी समस्त अभ्युदय को भोग कर अन्त में मोक्ष को प्राप्त करता है। ज्ञान ज्ञायक है न कि कारक; अतः तीर्थंकरों की सर्वज्ञता से जीवों की स्वतंत्रता में बाधा नहीं आती। यह दोष तो वैदिक ईश्वर में आता है। तीर्थंकरों की चौबीस संख्या और उनके क्षेत्र विशेष में होने की बाधायें भी निराधार हैं। जैसे स्वाभाविक रीति से एक वर्ष में छः ही ऋतु होती हैं और सब अपने अपने समय पर होती हैं ठीक यही बात तीर्थंकरों के सम्बन्ध में है (प्रमाण के लिये देखो चरक संहिता विमान स्थान अध्याय ३)। चाण्डाल तो क्या पशु का जीव भी तीर्थंकर हो सकता है। पतितपावन वीर प्रभु भील, सिंह आदि अवस्थाओं में रह चुके हैं, यह तो जैन धर्म का गौरव है जो पतित से पतित को भी परमात्मा बना जाता है। बड़ी चींटी का वर्णन इन पाँचों द्वीपों का नहीं है, यह तो स्वयंभुरमण का है जो कि इन द्वीपों से करोड़ों गुणा बड़ा है और वहां के अन्य प्राणी भी बहुत बड़े हैं।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि आर्य समाज ने

जैन तीर्थंकरों की सर्वज्ञता में जितनी भी बाधायें उपस्थित की थीं वे सब निराधार एवं निःसार प्रमाणित हुई हैं। जैन तीर्थंकर ऐतिहासिक पुरुष हैं तथा इनके आवरण दूर हो गए हैं और इनकी सर्वज्ञता की सिद्धि में अनेक प्रमाण दिये गए हैं जिनका खण्डन आर्य समाज से नहीं हो सका है; अतः यह निस्सन्देह मानने योग्य है कि जैन तीर्थङ्कर सर्वज्ञ हैं। जैनं जयतु शासनं।

ह० मुनिसुव्रतदास जैन,
प्रतिनिधि जैन समाज, पानीपत।

आर्यसमाज का उत्तरपत्र

[तारीख़ १२-११-३३—समय ८ बजे रात्रि]

किसी भी वस्तु की सिद्धि लक्षण और प्रमाणों से ही होती है—केवल प्रतिज्ञा मात्र से नहीं। लक्षण के लिये यह आवश्यक है कि उसमें अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असम्भव दोष न हों, परन्तु जैन तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता के विषय में सर्वज्ञ का जो लक्षण जैन भाई करते हैं वह सर्वथा सर्वदा असम्भव है। क्योंकि जो वस्तु है ही नहीं उसका प्रत्यक्ष किस प्रकार हो सकता है? भूत और भविष्य की बहुत सी बातें मनुष्य कार्य कारण के ज्ञान से जान लेता है। सम्भव है कि कोई मनुष्य कार्य कारण के ज्ञान का अधिक अभ्यासी हो और वह भूत भविष्य की अधिक

बातें जान सके, परन्तु यह ज्ञान अनुमिति कहलायेगा—प्रत्यक्ष नहीं। इसलिये यदि कोई मनुष्य इस प्रकार के भविष्य का वक्ता हो भी तो भी जैनसमाज की परिभाषा के अनुसार उसे सर्वज्ञ नहीं कह सकते। सब से बड़ा प्रश्न तो यह है कि भूत भविष्य की सम्पूर्ण बातों को प्रत्यक्ष देखने में कारण कुछ नहीं है और बिना कारण के कार्य का मानना उभयपक्ष सम्मत नहीं है। बस जब सर्वज्ञता का लक्षण ही असम्भव है तो इसमें प्रमाण कैसे मिल सकता था। इसीलिये जैनसमाज से बार बार आग्रह करने पर भी वह इसमें कोई प्रमाण न दे सका और नाही हमारे दिये हुये दोषों का वारण कर सका। हमने लिखा था कि जैन तीर्थंकरों की सर्वज्ञता में प्रत्यक्ष प्रमाण तो है ही नहीं क्यों कि वह सर्वज्ञता इन्द्रियों का विषय नहीं, और इस में अनुमान प्रमाण भी नहीं हो सकता, क्यों कि उसके लिये व्याप्ति ज्ञान की आवश्यकता है जिस प्रकार धुएं की और अग्नि की व्याप्ति है। मनुष्य ने एक स्थान पर अग्नि और धुएं का सहचर देखा। अब पुनः धुएं मात्र के प्रत्यक्ष होने से वह अग्नि का अनुमान कर लेता है। परंतु तीर्थंकरों की और सर्वज्ञता की कोई व्याप्ति ही नहीं है। बस इस अविनाभाव सम्बन्ध के बिना अनुमान कैसे कोई कर सकता है? इस लिये जैन तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता में अनुमान प्रमाण हो ही नहीं सकता। जैनसमाज ने कुछ अनुमानाभासों को जैन जगत से नकल करके लिखा था, हम ने भी उसका उत्तर जैन जगत से ही लिख दिया; परन्तु

नसमाज को तो "जैन जगत" का नाम सुनने से ही सन्निपात जाता है। परन्तु यह उन्हें पहिले ही समझ लेना चाहिये । कि कल्पित सर्वज्ञ वाद के खण्डन में "जैन जगत" की वे वल युक्तियाँ भी आवेंगी जिनके कारण जैनसमाज में भयाक खलबली मची हुई है। हमारा विचार था कि हम जैन जगत ी उन सम्पूर्ण युक्तियों को जो उन्हों ने तीर्थंकरों की सर्वज्ञता ; खण्डन में दी हैं जनता के सन्मुख रखते, परन्तु हमें खेद कि हम ऐसा न कर सके। क्योंकि जैन जगत की एक ही तर्क । जैन समाज का पारा इतना चढ़ चुका था कि वह सन्निपात की अवस्था में आकर अनाप शनाप लिखने लगा। यदि हम और युक्तियाँ लिख कर सर्वज्ञता की पूरी कलई खोल देते तो जैन समाज की जो अवस्था हो जाती उसका अनुमान प्रत्येक विचारशील मनुष्य लगा सकता है और उस अवस्था में जैन समाज को पहुँचाना हमें इष्ट नहीं था। वास्तव में जब किसी ने पीतल को सोना समझ कर अपनी तिजौरियों में रक्खा हुआ हो और कसौटी पर रगड़ने से पीतल सिद्ध होने पर उस मनुष्य की तमाम आशाओं पर पानी फिर जाने से जो अवस्था होती है वही अवस्था आज जैन समाज की है। जैन समाज ने बहुत ही प्रयत्न किया कि यह विषय तर्क की कसौटी पर न रगड़ा जाय परन्तु अभाग्यवश ऐसा न हो सका। इसके बाद जैनसमाज ने एक बहुत ही निकम्मा सा पत्थर कसौटी के नाम से उपस्थित किया। परन्तु जिस प्रकार प्रत्येक पत्थर कहलाने

वाली वस्तु कसौटी नहीं हो सकती इसीप्रकार पञ्चमी विभक्ति से युक्त कहा हुआ प्रत्येक वचन हेतु नहीं हो सकता। आप के हेतु का नमूना तो देखिये। आप फ़रमाते हैं कि सूक्ष्मादि सम्पूर्ण पदार्थ जैन तीर्थंकरों के प्रत्यक्ष का विषय हैं अनुमेय होने से; जो अनुमेय होता है वह किसी न किसी प्रत्यक्ष का विषय होता है। हमने इसमें जैन समाज से पूछा था कि प्रथम तो यही असिद्ध है कि जो वस्तु अनुमेय होती है वह किसी न किसी के प्रत्यक्ष होती है। क्यों कि आकाश, काल, दिशा, आत्मा, परमाणु आदि अनेक वस्तुयें ऐसी हैं जिनके प्रत्यक्ष होने का विरोध जैन समाज ने पूर्व शास्त्रार्थ में स्वयं किया है। इस लिये यह हेतु व्यभिचारी है। अब जैनसमाज लिखता है कि आप का यह कथन "पक्षैकदेश" में दोष दिखाता है। यह भी जैन समाज की भूल है। क्योंकि इस प्रकार यदि सम्पूर्ण वस्तुओं को पक्ष में समझ लिया जाय तब तो तर्क अनुमान का सफ़ाया ही हो जायेगा! फिर कोई मनुष्य कहेगा कि मनुष्य सींग वाला प्राणी है प्राणी होने से, गाय भैंसादि के समान। पुनः इसका खण्डन आप कैसे करेंगे। इसलिये जैन समाज ने आर्य समाज की इस बात में कि पक्षैकदेश में दोष नहीं दिखाना चाहिये नकल तो की पर ठीक न उतार सका। सब से बड़ी बात तो इससे यह हुई कि इस हेतु से तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता तो सिद्ध न हुई अपितु सम्पूर्ण मनुष्य सर्वज्ञ बन गये। क्योंकि

अनुमेयत्वेय हेत्वाभास तीर्थङ्करों के लिये ही लागू हो ऐसा कोई नियम नहीं। इसी लिये हमने प्रथम पत्र में लिखा था कि देवदत्तादि कोई भी व्यक्ति आपके इन हेत्वाभासों के आश्रय से अपने को सर्वज्ञ सिद्ध करेगा तो आप उसका किस प्रकार खण्डन करेंगे; इसका उत्तर जैनसमाज दे ही क्या सकता था? दूसरी बात हमने यह कही थी कि यह भूत भविष्य की सम्पूर्ण बातें जिनको आप अनुमान का आश्रय बना रहे हैं वे भी असिद्ध हैं। क्योंकि भूत भविष्य के सम्पूर्ण पदार्थों का प्रत्यक्ष सिद्ध होना असम्भव है। दूसरा दोष हमने यह दिया था कि यह हेतु 'सत्प्रतिपक्ष' है। उस पर जैनसमाज ने लिखा है कि सत्प्रतिपक्ष को जिन दार्शनिकों ने हेत्वाभास माना है यह उन दार्शनिकों की भूल है। क्यों न होती? क्योंकि इससे जैनियों की कल्पित सर्वज्ञता की पोल खुलती थी। इसलिये जो भी फ़िलासफ़र अथवा वैज्ञानिक या इतिहासज्ञ आदि जैनधर्म के कल्पित सिद्धान्त के विरुद्ध कुछ कहता है, उन सबकी ही भूल है। यदि भूल से ख़ाली है तो केवल एक जैनसमाज के कुछ अन्ध विश्वासी भगत और उनकी हाँ में हाँ मिलाने वाले कुछ पण्डित, क्योंकि सर्वज्ञों की कृपा के पात्र ये ही हो सकते हैं। भला जैनसमाज के इन मान्य विद्वानों ने इस सत्प्रतिपक्ष के खण्डन में हेतु भी क्या अच्छे दिये हैं? कहते हैं कि दो हेतु एक पक्ष में समान बल से रहते हैं या न्यूनाधिक बल से? यदि इन्होंने "सत्प्रतिपक्ष" के लक्षण पढ़ लिये होते तो ये इस

प्रकार की शङ्का उठाने का साहस न करते । नवीन नैयायिक जिस हेत्वाभास को " सत्प्रतिपक्ष " कहते हैं उसीको प्राचीन नैयायिक "प्रकरण सम" कहते हैं—जिसका लक्षण है "यस्मात् प्रकरण चिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः" न्या० द० । जहां साध्य के अभाव का साधक कोई दूसरा हेतु मौजूद रहता है उसे प्रकरण सम कहते हैं । अब यह बात कि उन दोनों हेतुओं में से कौन सा हेतु सबल है और कौन सा निर्बल है यह परीक्षा के ऊपर निर्भर है । जौनसा हेतु निर्बल सिद्ध होजायगा वह हेत्वाभास सिद्ध होगा । प्रकृति में आपने जो हेतु दिया था अभ्युपगम सिद्धान्तानुसार उसको मान कर यह दोष दिया गया था, परन्तु आप उसको निर्बल सिद्ध न कर सके और आप के दिये हुये हेतु में जो हमने दोष दिये थे उनका वारण भी न कर सके; इसलिये आपका हेतु हेत्वाभास सिद्ध हो गया और हमारा हेतु "सद्धेतु" । इसलिये जैन तीर्थंकर सर्वज्ञ सिद्ध होने के बजाय अल्पज्ञ सिद्ध हो गये । आपने रेखागणित का जो साधारण उदाहरण पेश किया था उससे भी जैन तीर्थंकरों की कोई विशेषता न होने के कारण सर्व जीव सर्वज्ञ सिद्ध होते हैं । यद्वा तद्वा मनुष्यों का सर्वज्ञ सिद्ध होना आपको इष्ट नहीं । इसलिये उस तर्काभास से भी आपका मनोरथ पूरा न हो सका । दूसरे अनुमानाभास का नाम " प्रमेयत्व " है जो पूर्व "अनुमेयत्व" के शब्दों को ही उलट पलट करके लिया है । तीसरा हेतु आपका "श्रुत ज्ञान का विषय" है । क्या यह श्रुत

ज्ञान का विषय प्रमेय नहीं होता अथवा अनुमेय नहीं होता ? जब प्रथम अनुमान में सम्पूर्ण वस्तुओं का प्रत्यक्ष आप कह चुके थे तो कोई ऐसी वस्तु भी रह गई थी जो प्रथम हेतु के दायरे से बाहर रहकर प्रत्यक्ष-विषय नहीं हुई थी ? यदि ऐसा है तब तो आपने पूर्व हेतु को स्वयं खण्डित कर दिया और यदि सम्पूर्ण वस्तुओं का अनुमेयत्वसे प्रत्यक्ष करा चुके थे तो इन अन्य हेतुओं को लिखकर पुनरुक्त दोष के पात्र क्यों बने ? असल बात तो यह है कि आपने जब पूर्व हेतु लिखा था तब आप स्वयं उसको इतना निर्बल समझते थे कि उसकी रक्षार्थ अन्य हेत्वाभास भी आप को रखने पड़े। जिस प्रकार एक झूठ को सिद्ध करने के लिये मनुष्य अनेक झूठ बोलता है वही अवस्था आपकी हुई। यह तो है उनके हेत्वाभासों की अवस्था। अब इस पर हमने तीर्थंकरों की अल्पज्ञता सिद्ध करने के लिये जो हेतु दिये थे वे ये हैं:— (१) जैन तीर्थङ्कर अल्पज्ञ थे, सशरीरी होने से (२) जैन तीर्थङ्कर अल्पज्ञ थे, अनादि अल्पज्ञ होने से (३) जैन तीर्थङ्कर अल्पज्ञ थे, पराधीन होने से। (४) जैन तीर्थंकर अल्पज्ञ थे, परस्पर विरुद्ध भाषी होने से (५) जैन तीर्थङ्कर अल्पज्ञ थे, जैन शास्त्रों में प्रमाण मिलने से; इत्यादि २ इन सबमें अविनाभाव संबंध है अर्थात् हम संसार में यह देखते हैं कि जो जो शरीरी होता है, वह वह अल्पज्ञ होता है, रथ्यापुरुष वत्। इसी प्रकार अन्य बातों के साथ भी अल्पज्ञता का अविनाभाव सम्बन्ध है। इसलिये जैनसमाज से इन हेतुओं का कोई उत्तर न

बन सका। केवल अपनी शर्म उतारने के लिये लिखता रहा कि हम इनकी मरम्मत कर चुके हैं, परन्तु यह न बतलाया कि क्या मरम्मत और कहां कर चुके हैं। और यह मरम्मत करना जैनसमाज ने कहां सीखा है। इसी प्रकार हमारी युक्तियों के विषय में तो उपरोक्त वाक्य लिखने का भी साहस न हो सका। (१) एक मनुष्य को क्या अनन्तानन्त डिग्री बुखार हो सकता है? (२) जैन सिद्धान्तानुसार जब जीव अनादि काल से बन्धन में है तो उस का बन्धन छूटने का कोई हेतु आज तक जैनसमाज ने नहीं दिया (३) इसी प्रकार एक सर्वज्ञ दूसरे सर्वज्ञ को जान सकता है या नहीं ? इसका कोई उत्तर नहीं दिया। (४) सर्वज्ञ, इन्द्रियाँ और मन रहते हुये, एक समय में ही अनन्तानन्त लोक की बात कैसे जान सकते हैं ? (५) जो वस्तु गुज़र चुकी तथा अनन्त काल के बाद होने वाली है उन सब को वर्तमान समय में जानना मिथ्या ज्ञान है। (६) असत् का प्रत्यक्ष भी भ्रान्ति है न कि सत्य ज्ञान। पुनः हम ने आदि पुराण के पर्व ३९ से ४२ तक की कथा लिखकर भरत महाराज व ऋषभ देव की बात चीत से यह सिद्ध किया था कि आदिनाथ भगवान को न तो भूत का ज्ञान था, न वर्तमान समय की सब बातों का। इस लिये वे सर्वज्ञ नहीं थे, अपितु अल्पज्ञ थे। तथा ऋषभदेव भगवान का छः महीने तक भिक्षा के लिये घूमते फिरना और भोजन न मिलना सिद्ध करता है कि वे अल्पज्ञ थे। इस विषय में आपका यह कहना कि उस

समय/ तीर्थङ्कर सर्वज्ञ नहीं हुए थे हास्य-जनक है। इसी तरह ऋषभदेव भगवान के चेलों का भगवान से विरुद्ध होकर उनका और उनके मत का घोर विरोध करना उनकी अल्पज्ञतापर पूरा प्रकाश डालता है। तथा एक मनुष्य अनन्त पदार्थों की अनन्त पर्यायों का अन्त जान ले तब तो वे पदार्थ अनन्त न रहें, अगर न जाने तो सर्वज्ञता नष्ट हो जाय। जैनसमाज ने इसका उत्तर सत्यार्थ प्रकाश से चुराकर लिखा तो, परन्तु असफल रहा। जैन तीर्थङ्करों की भविष्यवाणी से भी यह सिद्ध हो चुका कि वे सर्वज्ञ नहीं थे, अपितु अल्पज्ञ थे; क्योंकि वर्तमान समय की उन्होंने कोई भविष्यवाणी नहीं की। जैन शास्त्रों में (जो कि सर्वज्ञ की वाणी है) परस्पर महा विरोध मिलने से भी यह स्पष्ट सिद्ध हो चुका है कि तीर्थङ्कर विशेषज्ञ भी नहीं थे, क्योंकि विशेषज्ञ इस प्रकार की परस्पर विरुद्ध बातें नहीं कहा करता। भरत का क्षणमात्र में सर्वज्ञ हो जाना सर्वज्ञता की पूरी कलई खोलता है। इसी तरह जैन तीर्थंकर कल्पित वस्तु हैं तथा जैनधर्म कोई प्रचीन स्वतंत्र धर्म नहीं है, यह भी हमने अनेक प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है। इन प्रमाणों के उत्तर में जैन समाज गाली बकने के सिवाय कुछ चूं चरा न कर सका।

गुलशन में सुन के ज़मज़मा परदाज़ियाँ मेरी।
गुम हो चुके हवास मेरे हम सफ़ीर के॥

जैनसमाज ने इस अंतिम पत्र में ऐसी मुंह की खाई है कि उसको हमेशा याद रहेगी। जैन समाज का कहना है कि यदि

आर्यसमाज को हमारे वैदिक प्रमाण मिथ्या प्रतीत हुये थे तो उसका कर्तव्य था कि उनका खण्डन करता। आर्यसमाज ने आपके मिथ्या प्रमाणों का अनेक वार खण्डन किया तथा आपके किये अर्थों को प्रत्येक प्रकार से गलत सिद्ध किया परन्तु जैनसमाज पुरानी बीमारी को जो कि जैन आचार्यों से चली आ रही है न छोड़ सका। प्रमाण के लिये मोक्ष मार्ग प्रकाश आदि ग्रन्थ मौजूद हैं। जैन समाज को इस प्रकार के मिथ्या लेख लिखते हुये जहाँ लज्जा आनी चाहिये थी वहाँ वह उस पर और भी गौरव करता है और उसी प्रकार के घृणित कार्य की मिसालें फिर उपस्थित करता है। एक प्रमाण ऋग्वेद के नाम से दिया है जो इस प्रकार है—"रूपं रूपं मघवा" इत्यादि। इसका निरुक्त लिखने का भी दुःसाहस किया है। इससे आप एक व्यक्ति के (भरत के) ९६००० शरीर बनाकर भोग करने की पुष्टि करते हैं; यह है निर्लज्जता की पराकाष्ठा। यहां मघवा शब्द स्पष्ट पड़ा है, जिसका अर्थ वायु है। अब मन्त्रार्थ यह हुआ कि वायु जैसे जैसे स्थान में प्रवेश करता है तदाकार हो जाता है। इस से भरत महाराज के ९६००० शरीर कैसे निकल आये ? यह बात नहीं है कि जैन समाज ने यह प्रमाण इस रूप में प्रथम वार ही पेश किया हो अपितु लिखित शास्त्रार्थों में जैनसमाज के वर्तमान शास्त्रार्थकर्ता विद्वान् यह प्रमाण दे चुके हैं और हमारी तरफ़ से सत्यार्थ लिखकर दिया जा चुका है। फिर भी जान बूझ कर जनता की आँख में

धूल झोंकना इसी का नाम है। आगे आपने दर्शन का प्रमाणाभास देकर यह सिद्ध किया कि ऋद्धियाँ जन्म से भी होती हैं। श्रीमान् जी ! यह जैन शास्त्रों के गपोड़े नहीं हैं जिनको आप जाकर मन्दिर जी में सुना देते हैं। यह दार्शनिक बातें हैं। वहाँ तो भाव यह है कि औषधि, जन्म और तप से सिद्धियाँ मिलती हैं। सो महाराज औषधियों की सिद्धियाँ तो अब भी डाक्टरी (वैद्यक) बतला रही है। तप की सिद्धियाँ विद्युत् विमान (हवाई जहाज़) आदि के कार्य विद्यमान हैं। जन्म की सिद्धि पक्षियों में उड़ने की वर्तमान ही है। आप यहाँ तो व्यास भाष्य भी देखना भूल गये। वहीं पर जन्म की सिद्धि में पक्षियों का दृष्टान्त दिया है। इसी तरह आप ने अनुमादि सिद्धियाँ लिख दी हैं। सो श्रीमान् जी ये सिद्धियें विचित्र जैन शास्त्रों में ही मिल सकती हैं; योग में कहाँ ? दुःख है जिनको इन के नाम तक का पता नहीं वे भी दर्शनों पर क़लम कुठार चलाने का दुःसाहस करते हैं। श्रीमान् जी ! वहाँ चाँद, सूरज से अभिप्राय नाड़ियों का है। आगे आपने भरत को कर्म योगी खूब लिखा—९६००० स्त्रियों से एक साथ भोग करने वाला भी योगी है। तो धन्य है जैनियों के इस योगी को जो ९६००० पुरुषों का हिस्सा छीन कर भोगता हुआ भी योगी है। आपने इस पर गीता का उल्लेख कर के अपनी क़लम को कलंकित किया है। यही दशा आपके प्रमाणाभासों की है। क्या हम आशा करें कि जैनसमाज इस पाप का प्रायश्चित करेगा। हमने शास्त्रार्थ के

प्रथम पत्र में और इस पत्र में भी अनेक वार प्रार्थना की, परंतु उसने हट के कारण एक न सुनी। इसीलिये हमें इतना लिखना पड़ा; अन्यथा हम तो इस नीति को प्रशस्त समझते हैं—

फ़लई भी रियाकार की खुलती रहे अकबर।
तानों में मगर तर्ज़ मुहज़्ज़ब भी न छूटे॥

हमने सर्वज्ञ का अर्थ जैन ग्रन्थों के प्रमाणों से तथा कोषादि और लोक व्यवहार से सिद्ध कर दिया था कि जैनियों के मनकल्पित अर्थ का वाचक यह शब्द नहीं है। जिसको जैन समाज ने स्वीकार कर लिया था और विरोध में एक भी प्रमाण नहीं दिया था। परन्तु अब इस अन्तिम पत्र में फिर सर्वज्ञ शब्द का विवाद उपस्थित कर दिया। परन्तु जहाँ जहाँ मनुष्यों के लिये इस शब्द का व्यवहार होता है वहाँ २ विशेषज्ञ अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त होता है। आपने इतिहास के नाम से कुछ प्रमाणाभास फिर दे दिये, परन्तु उनमें यह कहीं नहीं लिखा कि आप के ये तीर्थङ्कर सर्वज्ञ हुये हैं और इनके वे अतिशय वास्तव में थे जिनका वर्णन हम पूर्व में कर चुके हैं। और जैन मन्दिर के पुराने लेख से ही हम नेमनाथ की कल्पना को मिथ्या सिद्ध कर चुके हैं जिसका आपने कोई उत्तर नहीं दिया। आपने दो एक अंग्रेज़ों के नाम लिखकर यह लिखा है कि वे लोग पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी को ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं। इस आप ही के लेख से बाईस तीर्थङ्कर तो कल्पित सिद्ध हो ही चुके। श्रीमान् जी! एक शास्त्रार्थ में ही अब

बाक्स गय ता दो की गिनती क्या ? परन्तु आपके उन अंग्रेज़ों ने भी इन दोनों का सर्वज्ञत्व होना और उपरोक्त अतिशयों से युक्त होना स्वीकार नहीं किया। इसलिये ये दोनों व्यक्ति जैन तीर्थङ्कर नहीं हो सकते। विकास में तथा हमने जो तीर्थङ्करों को ऐतिहासिक पुरुष लिखा है वह तो अभ्युपगम सिद्धान्तानुसार अर्थात् एक बात को मान कर आगे परीक्षार्थ लिखा है। मोहन जी दारो में शिव लिङ्ग पाने से यह बात सिद्ध हो चुकी कि शैव धर्म प्राचीन है; जैन धर्म नहीं। यह सब सरकारी रिपोर्टों के आधार पर पूर्व ही सिद्ध कर चुके हैं। सर्वज्ञ के विषय में जो आपने हेत्वाभास दिये थे उनका हमने अनेक बार प्रबल युक्तियों से खण्डन कर दिया, जिन का आप कोई उत्तर न दे सके। और हमारी ओर से जो युक्तियां और प्रमाण उपस्थित किये गये उनको आपने अब तक भी नहीं छुआ। अतः वे सर्वज्ञता के खण्डन में सद्धेतु सिद्ध हो चुके। आपने निरक्षरी वाणी का बहुत सुन्दर अर्थ किया है। इसी तरह जैन शास्त्रों के अर्थ बदलते जाइये। पुनः परमेश्वर की कृपा से वह समय समीप ही आवेगा कि जब आप सत्य मार्ग पर आजावेंगे, क्योंकि इन गपोणों के अर्थ कहाँ तक बदलोगे ? आपका पञ्चम काल भी इसी बात का तक़ाज़ा करता है। आप लिखते हैं कि हमने तीर्थङ्करों की निर्दोषता (?) उनकी सर्वज्ञता आदि सब सिद्ध कर दिये हैं, सो श्रीमान् जी ! मंदिर जी में बैठकर यह किया होगा। शास्त्रार्थ के क्षेत्र में तो नहीं। आपने अपने सर्वज्ञ होने में

जो बाधाएं दिखलाई हैं वे बाधाएं आपके तीर्थङ्करों में नहीं थीं, यह आपने कब सिद्ध किया है ? इसमें तो आपने किसी अंग्रेज़ का प्रमाण भी नहीं दिया। बस युक्ति और प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका कि जैन तीर्थङ्कर सर्वज्ञ नहीं थे, अपितु अल्पज्ञ थे। एवं जैनधर्म कोई प्राचीन धर्म नहीं है, यह भी प्रसङ्गवशात् स्वतः सिद्ध हो गया।

ह० सोहनलाल आर्य, मंत्री आर्यसमाज, पानीपत।

श्री 'चम्पावती' जैन पुस्तकमाला की

सर्वोपयोगी पुस्तकें

१. जैनधर्म परिचय

पं० अजितकुमारजी शास्त्री इसके लेखक हैं। पृष्ठ संख्या क़रीब पचास के है। लेखक ने जैनधर्म के चारों अनुयोगों को इसमें संक्षेप में बतलाया है। जैनधर्म के साधारण ज्ञान के लिये यह बहुत उपयोगी है। मूल्य केवल -)॥

२. जैनमत नास्तिक मत नहीं है

यह मि० हर्बर्ट वारन के एक अंग्रेज़ी लेख का अनुवाद है। इसमें जैनधर्म को नास्तिक बतलाने वालों के प्रत्येक आक्षेप का उत्तर लेखक ने बड़ी योग्यता से दिया है। मूल्य केवल)॥

३. क्या आर्यसमाजी वेदानुयायी हैं ?

इसके लेखक पं० राजेन्द्रकुमार जी न्यायतीर्थ हैं। इसमें लेखकने आर्यसमाजियों के अनादि पदार्थों के सिद्धांत, मुक्तिसिद्धांत, ईश्वर का निमित्तकारण और सृष्टिक्रम व ईश्वर-स्वरूप को बड़ी स्पष्टरीति से वेद-विरुद्ध प्रमाणित किया है। पृष्ठ संख्या ४४। क़ाग़ज़ बढ़िया। मूल्य केवल -)

४. वेद मीमाँसा !

यह पं० पुत्तूलाल जी कृत प्रसिद्ध पुस्तक है। पुस्तक-माला ने इसको प्रचारार्थ पुनः प्रकाशित किया है। मूल्य छः आने से कम करके केवल =) रक्खा है।

५. अहिंसा !

इसके लेखक पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री धर्माध्यापक स्याद्वाद विद्यालय काशी हैं। लेखक ने बड़ी ही योग्यता से जैनधर्म के अहिंसा सिद्धान्त को समझाते हुए उन आक्षेपों का उत्तर दिया है जो कि विधर्मियों की तरफ़ से जैनियों पर होते हैं। पृ० संख्या ५२। मूल्य केवल ~)॥

६. श्रीऋषभदेवजीकी उत्पत्ति असंभव नहीं है !

इसके लेखक बा० कामताप्रसाद जैन अलीगञ्ज (एटा) हैं। यह आर्यसमाजियों के "ऋषभदेवजी की उत्पत्ति असंभव है" ट्रैक्ट का उत्तर है। पृष्ठ संख्या ८४; मूल्य ।)

७. वेदसमालोचना

इसके लेखक पं० राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थ हैं। लेखक ने इस पुस्तक में, अशरीरी होने से ईश्वर वेदों को नहीं बना सकता, वेदों में असम्भव बातों का, परस्पर विरुद्ध बातों का, अश्लील, हिंसा विधान, मांसभक्षण समर्थन, असम्बद्ध कथन, इतिहास, व्यर्थ प्रार्थनायें और ईश्वर का अन्य पुरुष से ग्रहण आदि कथन है; आदि विषयों पर गम्भीर विवेचन किया है। पृष्ठ संख्या १२४। मूल्य केवल ।=)

८. आर्यसमाजियों की गप्पाष्टक !

लेखक—श्री पं० अजितकुमार जी, मुल्तान। विषय नाम से प्रगट है। मूल्य)॥

९. सत्यार्थदर्पण !

लेखक—श्री पं० अजितकुमार जी, मुलतान। हमारे यहां से यह पुस्तक दूसरी बार आवश्यक परिवर्तन करके ३५० पृष्ठों में छापी गई है। इसमें सत्यार्थप्रकाश के १२वें समु-

ल्लास का भली प्रकार खण्डन किया गया है। प्रचार करने योग्य है। लागत मात्र मूल्य ॥।)

१०. आर्यसमाज के १०० प्रश्नों का उत्तर!

लेखक—श्री पं० अजितकुमार जी, मुलतान। विषय नाम से प्रकट है। पृष्ठ संख्या १००। मूल्य ≡)

११. क्या वेद भगवद्वाणी है ?

लेखक—श्रीयुत् सोऽहं शर्मा। विषय नाम से प्रकट है। पुस्तक पढ़ने एवं विचार करने योग्य है। मूल्य -)

१२. आर्यसमाज की डवल गप्पाष्टक!

लेखक—श्री पं० अजितकुमार जी, मुलतान (पञ्जाब)। विषय नाम से प्रगट है। मूल्य -)

१३. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि।

लेखक—श्री बा० कामताप्रसाद जी, अलीगञ्ज (एटा)। इस पुस्तक में दिगम्बर मुनियों के स्वरूप के साथ ही साथ उनके दिगम्बरत्व को शिलालेख, शाही फ़र्मान और विदेशी यात्रियों तथा विद्वानों के उल्लेख आदि ऐतिहासिक दृढ़ प्रमाणों द्वारा अनादि सिद्ध किया है। दिगम्बर मुनियों के स्वरूप और उनके आदर्श को प्रगट करने के हेतु श्री पञ्च परमेष्ठी, भगवान ऋषभदेव, भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर तथा श्री आचार्य शान्तिसागर जी महाराज आदि के चित्र भी दिये गये हैं। क़ाग़ज़ २८ पौंड, पृष्ठ संख्या क़रीब ३५०, मूल्य केवल एक रुपया।

१४. आर्यसमाज आगरा के ५० प्रश्नों का उत्तर

लेखक—पं० अजितकुमार जी शास्त्री मुल्तान हैं। विषय नाम से प्रगट है। पृष्ठ सं० ६९; मू० केवल =)

१५. जैनधर्म सन्देश

लेखक—पं० अजितकुमार जी शास्त्री मुलतान। इसमें जैनधर्म के चारों अनुयोगों का प्रतिपादन गागर में सागर की भांति किया गया है। पृष्ठ सं० ३२; मू० =)

१६. आर्य भ्रमोन्मूलन

लेखक—पं० अजितकुमार जी शास्त्री मुलतान। इस पुस्तक में शास्त्री जी ने आर्यसमाज के जैन भ्रमोच्छेदन ट्रैक्ट का करारा उत्तर दिया है। छपाई और काग़ज़ बढ़िया; फिर भी मूल्य -)

१७. लोकमान्यतिलक का जैनधर्मपर व्याख्यान।

यह पुस्तक बड़ी उपयोगी है और अजैन विद्वानों में बाँटने योग्य है; अभी द्वितीयावृत्ति हुई है। मूल्य)॥

१८. शास्त्रार्थ पानीपत भाग १

यह शास्त्रार्थ जैनसमाज पानीपत और आर्यसमाज पानीपत से लिखित हुआ है। इसका विषय "क्या ईश्वर सृष्टि-कर्ता है" है। हरेक जैन व अजैन के पढ़ने योग्य है, पृष्ठ संख्या पौने दो सो के क़रीब है। मूल्य केवल ॥=)

१९. शास्त्रार्थ पानीपत भाग २

यह पुस्तक उक्त शास्त्रार्थ का दूसरा भाग है। इसका विषय "क्या जैन तीर्थङ्कर सर्वज्ञ थे" है। हरेक जैन व अजैन के पढ़ने योग्य है। पृष्ठ संख्या २०० के क़रीब है। मूल्य ॥=)

पुस्तकें मिलने का पता :—

मैनेजर—श्री दिगम्बर जैन शास्त्रार्थ संघ,
सदर बाज़ार, अम्बाला छावनी।